पंतजी का गद्य

पंतजी का गद्य

सूर्यप्रसाद दीक्षित
एम० ए०, पी-एच डी०
जोधपुर विश्वविद्यालय

राधाकृष्ण प्रकाशन

मूल्य ४ रुपये ५० पैसे
पक्की जिल्द ६ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन,
२ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली ६
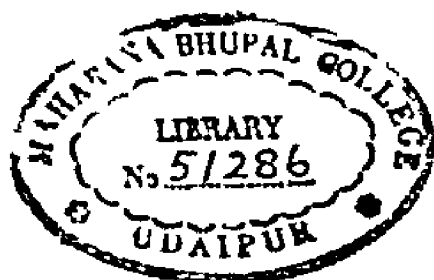
मुद्रक
[illegible] प्रिन्टर्स, दिल्ली १२

परम श्रद्धास्पद

गुरुवर आचार्य डॉ० भगीरथ मिश्रजी

की सेवा में

साभिवादन !

पूर्वाभास

पंतजी हिन्दी के उत्कृष्ट गद्यकार होते हुए भी अपने गद्य गौरव से अब तक गरिमामण्डित नहीं किए गए हैं। उनकी प्रतिष्ठा अद्यावधि काव्य (पद्य) क्षेत्र में ही की जाती रही है, अतः उनकी गद्य-कृतियाँ अल्पख्यात ही रह गई है और लेखक पंत की गद्यकारिता सम्यक् समुपस्थापित नहीं हो पाई है। यह स्मरणीय है कि पंतजी ने गद्य लेखन द्वारा अपने सृजनशील जीवन का शुभारम्भ किया था और गद्य रचना द्वारा ही वे अपनी साहित्य-साधना की शुभ समाप्ति करने को कृतसंकल्प है। इससे प्रकट है कि गद्य-लेखन पंतजी के समस्त कृतित्व का प्रेरणास्रोत है। यही उनके साहित्य-संचरण का प्रस्थान-विन्दु और परम गन्तव्य है। अस्तु, पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विकासात्मक अध्ययन एवं सर्वांगीण अनुशीलन की दृष्टि से पंतजी का गद्य अपरिहार्य है अथच उसका महत्त्व असन्दिग्ध है।

पंतजी ने हिन्दी गद्य की समस्त विधाओं को अपना योगदान दिया है। यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने गद्य के प्रत्येक क्षेत्र में केवल एक-एक कृति प्रस्तुत की है, जैसे नाटक क्षेत्र में 'ज्योत्स्ना', उपन्यास क्षेत्र मे 'हार', कहानी क्षेत्र में 'पाँच कहानियाँ', संस्मरणात्मक रेखाचित्र के क्षेत्र में 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', निवन्ध क्षेत्र में 'शिल्प और दर्शन' (जिसमें 'गद्यपथ' भी सम्मिलित है) तथा समीक्षा क्षेत्र में 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन'। इससे पंतजी की सर्वतोन्मुखी प्रायोगिक सिद्धि और उनकी कारयित्री प्रतिभा का हेत्वाभास होता है, जो वस्तुतः गम्भीर अध्ययन तथा अन्वेषण का विषय है।

पंतजी का यह आलोच्य गद्य कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से विलक्षण है। उनके चिन्तन में जो विचारोत्तेजना, तथ्यातथ्य-विमर्षिणी प्रज्ञा, वैचारिक गहनता और एकसूत्रता है वह सर्वथा श्रेयस्कर है, साथ ही उनका शिल्प, उनका विषय-प्रतिपादन, भाषा-

प्राजल्य और रचना-लालित्य भी अत्यन्त प्रकाम्य है। पतजी ने अपने नूतन शिल्पबोध द्वारा गद्य की एक विशिष्ट कोटि प्रकल्पित की है जो 'ललित गद्य' और 'गद्य काव्य' दोनों से भिन्न है। मैंने इसे 'छायावाद गद्य' की सज्ञा दी है क्योंकि इस गद्य में छायावाद की मूलभूत प्रवृत्तियों का समाहार है। छायावाद एक सशक्त युगप्रवृत्ति रही है, जो गद्य और पद्य दोनों में साथ-साथ प्रतिफलित हुई है। पतजी की इन गद्य कृतियों द्वारा छायावादी भावबोध और तद्गत अन्तर्प्रेरणा का सफल सवहन किया गया है। अस्तु मेरा निश्चित मत है कि बिना पतजी के इन आत्मकथ्यों और विचारसूत्रों से अवगत हुए उनके साहित्य एव जीवन-दर्शन की यथार्थ व्यजना सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में पतजी के गद्य का समग्र मूल्याकन ही मुझे अभीष्ट रहा है। पतजी के गद्यगौरव को सस्थापित करने के लिए मुझे पतजी के समस्त साहित्य का आकलन और तुलनात्मक विवेचन करना पडा है। पतजी की गद्यकला का स्तवन करते हुए मैंने उनके कतिपय निर्णयों और निष्कर्षों के प्रति विनम्र असहमति भी व्यक्त की है, जिसमें रागद्वेष प्रेरित कोई अन्यथा भावना नहीं है बल्कि एक आलोचक की तथ्यनिरूपिणी आस्था तथा आत्मविवशता है। मैंने विविध उपपत्तियों से यथासम्भव पृथक् रहने का यत्न किया है, फिर भी यदि कहीं कदाचित् कोई प्रतिक्रिया या भावाकुलता व्यक्त हो गई हो तो उसे मेरे उपचेतन की सहज-स्वाभाविक भाववृत्ति के रूप में ग्रहण किया जाए। इस अध्ययन में मैं प्राय उपलब्धिपरक दृष्टि लेकर चला हूँ, छिद्रान्वेषण मुझे कदापि अभिप्रेत नहीं है। फिर भी गुणगायन और दोषदर्शन की अतिवादी स्थितियों से बचने का मैंने भरसक प्रयास किया है।

इस अवसर पर मैं पतजी के वर्चस्व का पुन अभिनन्दन करता हुआ उन समस्त सुधीजनों के प्रति असम्बोधित कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ, जिनकी प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रतिभूति से मैं उपकृत हुआ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पी-एच० डी० हेतु स्वीकृत मेरे शोध प्रबन्ध का तृतीय खण्ड है जो एक ग्रन्थमाला में अपने परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसे यथासम्भव सर्वथा स्वायत्त और आद्यन्त बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस शोधकार्य से

सम्बन्धित विद्वानों की आख्याएँ मुझे लखनऊ विश्वविद्यालय के सौजन्य से प्राप्त हुई हैं। यहाँ जो आख्यांश दिया जा रहा है, उसके लिए मैं आचार्य डॉ० केसरीनारायणजी शुक्ल महोदय के प्रति विनयावनती हूँ। अपने शोध निर्देशक डॉ०देवकीनन्दनजी श्रीवास्तव के प्रति पुनः-पुनः आभार व्यक्त करता हुआ मैं श्रद्धेय कुँवर साहब (डॉ० चन्द्रप्रकाशसिंहजी) के सहज-स्नेह-संभार के प्रति अन्तः-अभिभूत प्रकट करता हूँ। अंत में,प्रकाशन-व्यवस्था के लिए मैं श्रीयुत ओम्प्रकाशजी (राधाकृष्ण प्रकाशन) को, उनके इस सुरुचि-संपन्न प्रकाशन के उपलक्ष में हार्दिक धन्यवाद और साधुवाद अर्पित करना चाहता हूँ।

मुझे विश्वास है—प्रस्तुत कृति पंत-साहित्य के एक नितान्त अस्पृष्ट किंतु अपरिहार्य पक्ष का समुद्घाटन करके साहि-त्यानुरागियों का स्नेह प्राप्त करेगी। निश्चय ही हर कृति का एक अपना भाग्य होता है और उस भाग्योदय का एक निश्चित क्षण होता है।

सूर्यप्रसाद दीक्षित

अनुक्रम

पंतजी का गद्य

हिंदी गद्य का रूपात्मक विकास और पंत का परिदान

गद्य कवियों की कसौटी है—'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति।' इस उक्ति में गद्य-साहित्य के प्रति घनीभूत निष्ठा व्यक्त हुई है। कविता के दोष कवि की कला में सहज उपलब्ध नहीं होते हैं, किन्तु गद्य में रचयिता की असमर्थता सहजतः प्रकट हो जाती है। पद्य की एक उक्ति, कल्पना अथवा अनुभूति रचना में चमत्कार की सृष्टि और लालित्य का समावेश कर सकती है, किन्तु गद्य में सर्वांशेन उत्कृष्टता लाना आवश्यक है और इसीलिए गद्य-रचना दुरूह है। एतदर्थ, कविकर्म की वास्तविक परीक्षा गद्य-लेखन में ही संभव है। गद्य में केवल कृती की बौद्धिकता, वैचारिकता और वैज्ञानिक विश्लेषणपूर्ण विकल्पात्मकता ही नहीं, वरन् रसात्मकता, भावत्मकता और आत्मिक संकल्पात्मकता भी अपेक्षित है। हिंदी के इस तथाकथित 'गद्य-युग' में गद्य प्रायः उपयोगी एवं बौद्धिक होता जा रहा है और उसके लालित्य की मात्रा भी अल्प होती जा रही है। आधुनिक साहित्यकारों ने काव्य को अनतिविस्तारी रूप में अव्याप्त कर लिया है और उसे पद्य में ही सीमित कर लिया है। 'छायावाद-युग' ने गद्य को कवित्व से सराबोर करके एक साथ ही उसे हृदयपूर्ण और मस्तिष्कपूर्ण बनाया है। प्रगति-वाद एवं प्रयोगवाद ने तो भावों का प्रायः गद्यीकरण कर दिया है। आज काव्य का छन्दोविधान, अंत्यानुप्रास, तुक और यति-गति-निर्वाह मात्र बौद्धिक व्यायाम प्रतीत होते हैं, इसलिए भावों की सरल-स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही अभिप्रेत हो उठी है।

भारतीय काव्य-परम्परा गद्य से पूर्ण परिचित है। प्राचीन आचार्यों ने गद्य-पद्य को समानुवर्ती काव्य माना है। एक ओर नीति, स्मृति, दर्शन और भिषजशास्त्र पद्यबद्ध होकर भी काव्य-संज्ञक नहीं बन सके और दूसरी ओर 'कादम्बरी' आदि गद्य-कृतियाँ निर्विवाद रूप से काव्य की परिभाषा से अभिहित की गई। काव्य की मान्यताएँ, जैसे, रमणीयार्थ, रसात्मकता, अलंकरण आदि, उभय विधाओं (गद्य-पद्य) पर समान-रूप से आरोपित होती है, अस्तु इन गुणों से परिपूर्ण दोनों विधायें काव्य की परिधि में ग्राह्य है। भावात्मक रंजना, सघन अनुभूति तथा रागात्मक नाद-सौष्ठव अपनी सुकुमारता से पद्य की सृष्टि करता है और चिन्तन की पद्धति एवं तार्किकता अपनी बौद्धिकता के कारण गद्य बन जाती है। प्रायः तथ्यपरक प्रतिपादन-पद्धति, वस्तुस्थिति की तर्कप्रवण अवधारणा, विचार-विश्लेषणपूर्ण मीमांसा, विकल्पपूर्ण जिज्ञासा और बौद्धिक समाधान गद्य में प्रभूत मात्रा में प्राप्त होता है। गद्य में विस्तार, व्यापकत्व और सामान्य जीवन की व्यावहारिकता अपेक्षाकृत अधिक प्राप्य है, और पद्य में

चमत्कृत निपुण अन्तस्पर्शी व तन्मयकारिणी क्षमता। गद्य का प्रयोग प्राच्य भारतीय काव्य-शास्त्र में क्रमानुगत रूप से हुआ है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से गद्य 'गद्' धातु के आधार पर बोलचाल के व्यावहारिक प्रचलन का समानार्थी है। इसे श्रव्य काव्य का एक विशिष्ट रूप माना गया है। गद्य के स्वरूपों में आख्यायिका, वृत्त, कथा आदि निर्दिष्ट किए गए हैं। आचार्य भामह ने इसे प्रकृत, अनाकुल, श्रव्य शब्दार्थ पदवृत्ति' रूप में निरूपित किया है। 'साहित्यदर्पणकार' ने इसके मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक चार प्रभेद किए हैं तथा उनके लक्षण भी स्पष्ट किये हैं—'वृत्तबन्धोज्झित गद्य'। मुक्तक का भेद उनकी नई धारणा का आभास देता है। आचार्य दण्डी गद्य को 'अपाद' पद सन्तानो गद्यमाख्यायिका कथौ' स्वीकार करते हैं। आचार्य 'वामन' वृत्तगन्धि में छंद का भी प्रयोग करते हैं। स्पष्ट है कि आख्यायिका, आख्यान और कथा के लिए गद्य शब्द का प्रयोग होता रहा है, उसका केवल सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक विचार-विमर्श के लिए ही शास्त्रीय आधार पर निरूपण नहीं हुआ है। अग्निपुराण के निर्देशानुसार छन्दहीन पद विस्तार गद्य है—'अपाद पदसन्तानो गद्य तदपि कथ्यते।'[4] हेमचन्द्र ने मात्र आख्यायिका को गद्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है—'नायकाख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थ शंसि-वक्त्रादि साच्छ्वासा संस्कृत गद्य युक्ताख्यायिका।'[5] गद्य वस्तुतः शब्दार्थयुक्त सरस भाषा का व्यावहारिक प्रचलन है। गद्य की अभिव्यक्ति प्रयोजनपूर्ण, प्रकृत और अधिक सरस होती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'पद्यवद्ध गद्यवन्धेपि रसबन्धोक्तमौचित्यम्'[6] का निर्देश किया है। डॉ० सूर्यकांत गद्य को भी पद्य की भाँति लयात्मक, किन्तु निरावृत मानते हैं और वह सबंध गद्य-पद्य की ऐसी समान भाषा घोषित करते हैं जो अपने प्रति-पाद्य में अधिक प्रेषणीय है। विशिष्ट छंदोबद्ध पद्य रचना उक्ति-वैचित्र्य, वाग्वैदग्ध्य और कृत्रिम भंगिमा के कारण सरल अभिव्यक्ति को गूढ़ार्थयुक्त तथा वक्र कर देती है। यही विशेषत दोनों विधाओं की प्रकृति का मूलभूत अन्तर है। वस्तुतः शिल्प सौन्दर्य से सम्बद्ध होकर भी दोनों भिन्न हैं। काव्य शब्द की अव्याप्ति करके परवर्ती आचार्यों ने उसे पद्य तक सीमित कर दिया और फलतः गद्य की अन्तर्प्रकृति का द्योतन नहीं हो सका। गद्यकृतियाँ बोधवृत्ति के साथ संवेदनशील भी हो सकती हैं और उनकी बाह्य शब्द रचना कलात्मक अनेकरूपता के साथ व्यावहारिक प्रेषणीयता का समन्वित संचार भी कर सकती है। रवीन्द्र के गद्य को समीक्षक उनके पद्य से अधिक ललित मानते हैं। अस्तु गद्य वस्तुतः छंदमुक्त, व्याकरणसम्मत, रमणीय वाक्य-रचना है, जिसमें

---

१ आचार्य भामह—काव्यालंकार, पृ० १-२५
२ आचार्य विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, ६, ३३०, ३३१
३ आचार्य दण्डी—काव्यादर्श, १, २३
४ अग्निपुराण, अध्याय, ३३७
५ हेमचन्द्र—काव्यानुशासन, ८, ७, ८
६ आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत, पृ० २०५

कल्पना, अनुभूति और सरसतापूर्ण रमणीय अभिव्यक्ति प्रतिफलित होती है। संगठन सूत्र के आधार पर विद्वानों ने इसे अनेक रूपों में विभक्त किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र ललित गद्य, यथा कहानी, उपन्यास (आख्यायिका, खण्ड-कथा और कथनिका) को गद्य-प्रबन्ध का प्रमुख भेद मानता है और स्वयं एक भेद के अनेक प्रभेद करता है, जैसे—कथा को उपाख्यान, आख्यानक, निदर्शन, प्रवनिका, मन्थल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा तथा बृहत्कथा श्रेणियों में विभक्त किया गया है। कथा-वस्तु के अन्तर्गत भी—कथनिकोपन्यास, कथनोपन्यास, आलापोपन्यास, आख्यानोपन्यास, आख्यायिकोपन्यास, परिकथोपन्यास एवं सकीर्णोपन्यास, आदि रूपों की व्याख्या उक्त ग्रन्थों में उपलब्ध है। हिंदी-गद्य की अभिनव विधाएं—उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, संस्मरण आदि इन्हीं रूपों के भेद-प्रभेद हैं, जिनकी विवेचना यथा-सन्दर्भ करणीय है। स्पष्ट है कि गद्य की सीमाएँ अपारदर्शी हैं। श्री अम्बिकादत्त व्यास ने गद्य की एक विधा उपन्यास को ही उनचास अरब छः करोड़ इकतालिस लाख अट्ठानवे हज़ार भेदों में विभक्त किया है।[1] इस विभाजन में निश्चय ही अति-व्याप्ति है, फिर भी इससे गद्य के विस्तार का आभास होता है। प्रमुखतः गद्य को प्रबन्ध, निर्बन्ध और मुक्त इन तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। विषय-वस्तु तथा लक्षण की दृष्टि से, १—उपयोगी या साहित्यिक गद्य (निबन्ध, प्रबन्ध, समालोचना और व्याख्या), २—ललित गद्य (नाटक, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, जीवनी आदि) का वर्गीकरण[2] पूर्णरूपेण संगत एवं समीचीन है। लिपि-बद्ध गद्य का व्यावहारिक प्रचलन तो अधिक पुरातन नहीं है, पर उसका प्रयोग हिंदी के उद्भव के साथ-साथ है। आज के इस गद्य-युग में उसकी उपादेयता असन्दिग्ध है। उसने काव्य की अन्य विधाओं को स्खलित करके साहित्य में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया है और छंदाभाव में गेयत्व को सुरक्षित रखकर गद्य गीत रूप में भी संगठित हो गया है। गद्य की संवेदनशीलता, रूपकात्मकता और भावविभोर काव्यात्मकता १९वीं शताब्दी से उद्भूत होती हुई क्रमशः 'छायावाद-युग' में अपने चरमोत्कर्ष पर प्रतिष्ठित हुई है और विविध रूपों का विकास करके लोक-व्यवहृत साहित्य का सशक्त माध्यम बन सकी है।

छायावाद का मूल्यांकन प्रायः अब तक उसकी काव्य-निधि के आधार पर हुआ है, किन्तु कवित्व (पद्य—वर्स) के अतिरिक्त गद्य-गरिमा के क्षेत्र में भी यह परम्परा अत्यधिक समृद्ध है। नाटक, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, निबन्ध, आलोचना आदि सभी गद्य-विधाएं इस युग में अंकुरित, पोषित और पल्लवित हुई हैं। छायावाद के विशिष्ट कवि पंतजी भी एक साथ ही कवि, लेखक, पद्यकार, गद्यकार तथा भावुक और भावक हैं। रस-प्रयोक्ता और भोक्ता बनकर वे अपने स्वस्थ सैद्धान्तिक

---

१. श्री अंबिकादत्त व्यास, गद्य काव्य-मीमांसा, कारिका १—२४

२. हिंदी-साहित्य कोष, पृष्ठ २५४

निष्कर्ष भी प्रस्तुत करते हैं। एक प्रचलित उक्ति है कि—'तसनीफ रा मुसन्निफ नेको कुनद बयां।' अर्थात् कृति की व्याख्या कृतिकार ही सम्यक्रूपेण कर सकता है। यह कथन पंतजी पर चरितार्थ होता है। उनका निजी काव्यालोचन हिन्दी का एक अभिनव प्रयोग है। हिन्दी गद्य के अन्य शिल्पों में उनका योगदान अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वे अनेक रचनातन्त्रों के प्रयोक्ता और अनेक काव्यमतों के अन्वेषक हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए हिन्दी गद्य का अद्यावधि सर्वेक्षण आवश्यक है। गद्य के उक्त रूपों की शास्त्रीय विवेचनासहित उनका उद्भव और क्रमिक विकास दिखाकर उसी परम्परा में कवि गद्यकार पंतजी का योगदान यथातथ्य प्रकट करना इस सन्दर्भ में अभीप्सित है। हिन्दी गद्य का इतिहास लगभग हजार वर्षों का इतिहास है। इसके क्रमिक विकास को अनेक श्रेणियों में और कालक्रमानुसार अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। आदिकालीन गद्य के अन्तर्गत मुख्यतः राजस्थानी गद्य, मैथिली गद्य, दक्खिनी गद्य आदि गणनीय हैं। बौद्धों, सिद्धों, जैनों तथा चारणों का साहित्य भी अनेकशः स्वतन्त्र ग्रन्थों व टीकाओं में द्रष्टव्य है—"नगरक दक्षिण योगिनीक आयतन देवी का ।"[1] मैथिली गद्य प्राचीन गद्य प्रवृत्तियों का सहज परिचायक है—'परमेश्वर अरहंत सरणि"—"पहिनउ त्रिकाल अतीत'।[2] ताम्रपत्रों के आधार पर प्राप्त राजस्थानी का गद्य भी उतना ही विलक्षण है—"धरती बीघा तीन से कपुत लाया जायेला।"[3] दक्खिनी गद्य का एक उद्धरण बन्दानवाज के 'तर्जुमा बदबुल आरफीन' से विचारार्थ प्रस्तुत्य है—'बजवुल आरफीन है, जो पीरकामिल मूतो देखे" ।[5] प्राचीन गद्य शिलालेखों, पट्टों, परवानों और दानपत्रों में इतस्ततः व्याप्त है। चारणों और डिंगल के अनेक कवियों की कलात्मक कथाकृतियों में गद्य की गरिमा सगुम्फित है। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व वचनिकाओं में—'विद्याधर पुष्प वृष्टि करई'[6] इस प्रकार के नमूने उपलब्ध होते हैं। स्वयं खड़ी बोली का प्रचलन विद्वानों ने आठवीं शताब्दी से सिद्ध किया है।[7]

द्वितीय उत्थान में गद्य का प्रारम्भिक काल आता है, जिसमें गोरखपंथी गद्य, भक्ति युग का वार्त्ता साहित्य (२५२ वैष्णवन की वार्ता, ८४ वैष्णवन की वार्ता), विट्ठलनाथ का शृंगार-रस मंडन, प्रियादास की टीकाएँ, हेमचन्द्र सूरि का शब्दानुशासन, मैथिली साहित्य के चम्पू, भाषा वचनिकाएँ, खुसरो की पहेलियाँ, कबीर की साखियाँ, बीसलदेवरासो आदि न्यूनाधिक रूप में गद्य के विकास-क्रम में उद्धरणीय हैं। 'आगे

१ ज्योतिरीश्वर ठाकुर—वर्णरत्नाकर, पृ० २८
२ हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५६
३ प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह, पृ० ८६
४ मोतीराम मेनारिया—राजस्थानी भाषा और गद्य, पृ० ३६२
५ श्रीराम शर्मा—दक्खिनी का पद्य और गद्य, पृ० ३६५
६ रावरी वचनिका पुरातत्त्व अन्वेषणालय जोधपुर में द्रष्टव्य
७ द्विवेदी—स्मारक ग्रन्थ, पृ० ४१८-४२१

मुखचन्द को पेखि पूर्णिमा को चन्द्र कलंकी भयो।' इस प्रकार का ब्रज भाषा गद्य प्रामाणिक रूप से हिन्दी की पुरातन निधि है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने आदिगद्यकार गोरखनाथ की किसी प्रामाणिक गद्य-रचना का अभाव सिद्ध किया है।[1] तथापि आचार्य शुक्लजी स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि "चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के ब्रजभाषा गद्य का नमूना।"[2] डॉ० वार्ष्णेय इसे अत्यधिक प्रामाणिक न मानते हुए भी राजस्थानी, खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा गद्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।[3] ब्रज भाषा गद्य गोरखपंथी साहित्य, वार्त्ता-साहित्य, पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों और भक्तकवियों की भाषाओं में प्राप्य है। नन्ददास की 'नासिकेतपुराण-भाषा', विट्ठलनाथ का 'शृंगाररस-मण्डन', वैकुण्ठमणि शुक्ल का 'वैशाख महात्म्य', हीरालाल की 'आइने-अकबरी की भाषा वचनिका', सुरतिमिश्र की 'बैताल पच्चीसी' आदि अनेक कृतियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

तृतीय उत्थान गद्य की प्रयोगावस्था का काल है। ब्रज-गद्य के स्थान पर शनैः-शनैः खड़ीबोली का रूप-गठन यहीं प्रारम्भ होता है। इस कालावधि में १६वीं शताब्दी में 'चंद-छंद ··बरनन की महिमा' (गंग भाट), १८वी शताब्दी में 'गोराबादल की कथा' (जटमल), दौलतराम का पद्मपुराण-अनुवाद, रामप्रसाद निरंजनी का भाषा योगवाशिष्ठ आदि स्फुट प्रयास प्राप्त होते हैं, दूसरी ओर योजनाबद्ध प्रयास की सृष्टि से फोर्ट विलियम कालेज गिलक्राइस्ट और लेखक चतुष्टय (सदल मिश्र, मुंशी इंशा-अल्ला, लल्लूलाल, मुंशी सदासुखलाल नियाज) का योगदान सराहनीय है। गिलक्राइस्ट की भाषा-नीति, फोर्टविलियम कालेज की वार्षिक विज्ञप्तियों द्वारा प्रकट होती है। इस युग में हिन्दुस्तानी में दक्षता प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी अत्यधिक इच्छुक रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने ईसाई-धर्म के प्रचार-प्रसार द्वारा हिंदी का प्रचलन स्वीकार किया है। उनके शब्दों में उर्दू पन को दूर रखकर ईसाई-धर्म प्रचारकों ने खड़ीबोली को आदर्श माना, क्योंकि "अरबी-फारसी का साधारण जनता से लगाव नही था।"[4] बाइबिल की भाषा के साथ ब्रह्मसमाजियों, आर्यसमाजी आन्दोलनों और अन्य धर्म प्रचारकों की भाषा खड़ीबोली से उत्प्रेरित हुई। इसी समय राष्ट्रीय स्थिति के प्रभाव से शिष्ट और व्यंजक गद्य का आविष्कार हुआ। लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति की प्रतिक्रिया-नुसार तथा चार्ल्स वुड के सुधारों के परिणामस्वरूप खड़ीबोली का गद्य ने अत्यधिक चामत्कारिक और सानुप्रासिक रूप धारण कर लिया। इसीलिए इंशा ने 'हिंदी छुट और किसी बोली की पुट' न होने की घोषणा की और 'रानी केतकी की कहानी' में सानुप्रासिक छटा दिखाई—"हम सबको बनाया, कर दिखाया, किसी में न पाया···

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—ब्रज भाषा, पृ० ५४
२. आचार्य शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४०४
३. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५६
४. आचार्य शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४२३

जा मेरे दाता न चाहा ता वह साव भाव और मुद पादलाट भाट दिखाऊँ जो देखने ही ध्यान का घाड़ा, जा बिजली से भी बहुत चचल चपलाहट मे है, अपनी चौकड़ी भूल जाए।" इस शाब्दिक मस्ती मे कुतूहलापन, रगीलापन, हास्य-व्यग्य, व्यग्यसूचक विशेषण, चित्रात्मकता और काव्यमय शब्दाडम्बर का प्रयासमाध्य प्रयोग उपलब्ध है। लल्लूलाल न प्रेमसागर मे फारसी तुर्की प्रयोगसहित अनेक पुराख्यान प्रस्तुत किए, जसे 'इतनी बात का सुनते ही कृष्ण ने कदम्ब पर चढ़ ऊँचे सुर स ज्यों बशी बजाई ता सुन ग्वाल-बाल और सब गाएँ भूजबन का फाडकर ऐस आन मिलीं जैस सावन भादो की नदी तुग-तरग का चौर समुद्र मे जा मिले।" इस प्रकार के गद्य-स्थल लेखन शैली का माधुर्य प्रकट करते हैं। उक्त भाषा यद्यपि अव्यवस्थित, अनियमित और असगठित है, फिर भी उसकी भावकल्पना और भाव प्रकाशन की पद्धति सराहनीय है। सदल मिश्र (नासिकेतोपाख्यान म) इस शिल्प की ओर और भी अभिमुख हुए हैं यथा 'लडकई स आज तक सुग्गा सा पढ़ाया।" उनकी भाषा के नमूने आधुनिक बनूँक्व का पूर्वाभास देत हैं। इस युग मे धर्म प्रचार कार्यों, पाठ्य-पुस्तकों और मुद्रण-यन्त्रों की सहायता से गद्यनिर्माण-कार्य अधिक तीव्रता से हुआ है। शैली मे क्रमश प्रचार वक्तता, तार्किकता, व्यग्यात्मकता और सस्कृतनिष्ठता प्रकट होती जाती है। लिंग, वचन क्रियापद तथा व्याकरण क अन्य अशुद्ध प्रयोग प्राय देखे जा सकते हैं यथा—' मैंन सब पुस्तकगण पाठ का नहीं देखा है।" 'सुखसागर' आदि की भाषा अस्वाभाविक, अव्याकरणिक एव पगु है, जैस —"धन्य कहिए राजा दधीच को कि नारायण की आज्ञा अपने शीश पर चढ़ाई जा महाराज की आज्ञा और दधीच के हाड का वज्र न होता तो ग्यारह जन्म ताई वृत्रासुर से युद्ध मे सरवर और प्रबल न होता और न जय पावता।" अन्य गद्यकारा म बाबू नवीनचन्द्र राय, श्रद्धाराम फुल्लौरी, भीमसेन शर्मा आदि इसी कालावधि में नवीन पारिभाषिक शैली का विशेष निर्माण करते हैं। इस युग मे हिन्दुस्तानी शब्दावली के सस्कृत शब्दरूप धातु प्रक्रिया के आधार पर आविष्कृत किए जाते हैं, परिणामत खंबा से खम्भा, हाइड्राजन से हिद्रजन, आक्सीजन से आपजन, शिकायत से शिकायत्व आदि शब्द प्रचलित होते हैं। खड़ीबोली दिनोदिन अंग्रेजी, सस्कृत, अरबी तथा फारसी से सम्बधित होती रही, अस्तु सभी भाषाओं का उसके प्रयोगकालीन गद्य पर यत्किचित् प्रभाव परिलक्षित होता है, जैसे "आगे हमको कागद लिखी थी सा हम पाया। सब हकीकत पाई। जिसका इलाज कुछ किये चाही।"[1] डॉ० वार्ष्णेय और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने पुरानी चिट्ठियों का सकलन प्रकाशित करके इस प्रकार से प्रतिनिधि नमूने उद्धृत किए हैं। इन्हें दरबारी फारसी शैली, हिन्दुस्तानी शैली और हिन्दवी शैली में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। नासिकेतोपाख्यान या चन्द्रावती, माधवानल कामकन्दला शकुन्तला नाटक, सिंहासन बत्तीसी आदि कृतियाँ, विशिष्ट टीकाएँ और अनुवाद इसी पद्धति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। कालेज की भाषा इस ओर अधिक

---

१ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—विशाल भारत, अप्रैल १९४०, पृ० ३६६

सयत्न है, यथा—"कुछ हुकुम जारी करने के वास्ते मोफसील कोट अपील के साहेब लोग के नाम पर सदर दीवानी अदालत में जारी होय।"[1] तत्कालीन हिन्दी पत्रों ने गद्य के विकास में उल्लेखनीय योग दिया है—कविवचन-सुधा, उदण्ड मार्तण्ड, भारत-मित्र, हिन्दी प्रदीप, बिहार-बन्धु, बंगदूत, सदादर्श, प्रजाहितैषी, धर्मात्मा, बनारस, अखबार, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, उचित वक्ता, लोक-मित्र आदि में इसी प्रकार के स्फुट प्रयास हैं। इनका एक उद्धरण द्रष्टव्य है—कहते हैं कि बादशाह गरदी के रौले में एक और बहुतेरे आदमी मारे गए थे।[2] समाज-सुधारकों में कुछ अन्य विशिष्ट व्यक्ति (जैसे राजा राममोहनराय, सरसैय्यद अहमदखां आदि) के प्रयास भी इस दिशा में सहायक सिद्ध हुए हैं। वेदान्त के अनुवाद और सम्पादन में उनका एक उद्धरण विचारणीय है—"वोह सराय में मिलने को और एक-एक का नजर एक-एक को दिखलावने को ।"[3] इसी बीच गार्सादतासी की इतिहास-कृति प्रकाशित होती है। बीम्स आदि विद्वान हिन्दी को रूढ़िवादी सिद्ध करके उर्दू का समर्थन करते है और एफ० एस० गाउज तथा राजा शिवप्रसाद, सितारे-हिन्द, संस्कृतनिष्ठ शैली का विरोध करते है—"जब तक कचहरी में फ़ारसी हरफ़ जारी है, इस देश में संस्कृत शब्दों के जारी करने की कोशिश बेफ़ायदा होगी।"[4] राजकीय प्रभाव में वे उर्दू पंथी बनकर हिन्दुस्तानी का प्रचार करते हैं। गार्सादतासी साम्प्रदायिकतावश इस भाषा को आघात पहुँचाते हैं। राजा साहब की भाषा-नीति यद्यपि उस युग के लिए उपयोगी थी और आज की माँग को देखते हुए भी उसमें दूरदर्शिता थी, पर इस समस्या को लेकर भारतेन्दु युग में एक विचित्र साहित्यिक कलह उत्पन्न हुआ। हरिश्चन्द्र मैगजीन के प्रकाशन के साथ ही द्वन्द्व का समारम्भ हुआ। आचार्य शुक्लजी के मतानुसार—भाषा के सम्बन्ध मे इस समय लोगों की फिर से आँखे खुलती हैं। राजा लक्ष्मणसिंह का अभिज्ञान शाकुन्तल अनुवाद विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली का प्रयोग है। फलतः उर्दू और संस्कृत शब्दावलियों का संघर्ष सम्मुख आया। राजा शिवप्रसाद की शब्दावली के वाक्यांशों में जहाँ उर्दवीपन था, राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में विशुद्ध संस्कृत के भाषा-माधुर्य के साथ-साथ आगरे की बोली का प्रभाव था। अन्य पुराने लेखकों में ब्रजभाषापन और पूरबीपन था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप प्रथम बार भारतेन्दु की भाषा में प्रकट हुआ जो आज की लेखन-शैली का आदर्श है।

हिन्दी-गद्य का यह निर्माण-काल से अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। आधुनिक गद्य-शिल्पों का विकास क्रमिक रूप से कई आयामों में होता आया है। भारतेन्दु-युग का योजनाबद्ध प्रयास इस निर्माण की दृष्टि से विशेषतः श्रेयस्कर है।

---

१. पं० चन्द्रबली पाण्डेय—हिन्दी गद्य का निर्माण, पृ० ४०
२. बिजेन्द्रनाथ बनर्जी—हिन्दी का पहला समाचारपत्र, विशाल भारत, १९४१
३. राजाराममोहनराय की हिन्दी–विशाल भारत, दिसम्बर, १९३३ पृ० ३७१
४. राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'—हिन्दी भाषासार, पृ० ५६

प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, जगमोहनसिंह, बालकृष्ण भट्ट, कार्तिकप्रसाद खत्री, मुंशी देवीप्रसाद, गोकुलनाथ शर्मा, अविकादत्त व्यास, श्रीनिवास-दास, बदरीनाथ, बालमुकुन्द गुप्त, सुधाकर, केशवराम भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि कितने ही गद्यकार इस युग मे नाट्यरचना, उपाख्यान (कथा साहित्य) और निबधो की ओर अग्रसर हुए। 'सितारेहिन्द' की भाषानीति इस युग मे पहले बडे सशक्त रूप मे हिन्दी के अतर्गत अवतरित हुई। उनकी सम्मत्यनुसार 'फारसी के प्रचलित शब्दो को हिन्दी से हटाकर शुद्ध संस्कृत शब्दावली के प्रयोग मे केवल अदूरदर्शिता और हठग्रम है।[1] अन्य लेखको ने इस अतिवाद का तीव्र विरोध किया, जिसका समन्वय या सन्तुलन भारतेन्दुजी द्वारा स्थापित हुआ। इस युग मे अनेक विधाओ का आविष्कार हुआ। अग्रेजी, संस्कृत और कतिपय प्रान्तीय भाषाओ के रूपान्तरो द्वारा हिन्दी गद्य के विविध प्रकार प्रस्तुत किए गए। विषय-वस्तु की दृष्टि से इतिहास, दर्शन, भक्ति, रहस्य, पुरातत्त्व, राजनीति, राष्ट्रीयता और सामाजिक परिष्कार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ भी प्रकट हुई। 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के आवरणपृष्ठ पर यही घोषणा प्रकाशित होती रहती थी।

इस कालावधि मे गद्य की भाषा निस्सकोच खडीबोली स्वीकार की गई, किन्तु पद्य के लिए भारतेन्दु युग व्रज भाषा की काव्य-माधुरी का लोभ सवरण नहीं कर सका और भाषा वैविध्य का प्रबल तर्क प्रतिपादित किया। इन लेखको मे विषय की व्यापकता है और उनकी शैली मे चमत्कार। भारतेन्दु-युग मे 'दात', 'भौं', 'आप', आदि छोटे-छोटे शीर्षको पर भी चुलबुलाहट के साथ ललित रचनाएँ प्रकाशित होती रही और शनै-शनै भाषा मे भी नियमन, स्थिरता तथा विचार-सूत्रता आती रही, पर अनेकरूपता और व्याकरणिक शिथिलता का पूर्ण परिहार अभी सम्भव नही हो सका था। व्रजभाषा गद्य अब तक समाप्त हो चुका था, केवल टीकाओ मे अव्यवस्थित रूप से दृष्टिपथ होता था। समसामयिक राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन से भावो की अभिव्यजना गद्य के माध्यम से अधिक समर्थ सिद्ध हुई। अत गद्य मे सामाजिक परिष्कार, उपयोगितावादी जीवन-दर्शन, बौद्धिक विश्लेषण, वैज्ञानिक दृष्टि एव वैचारिक गवेषणा आरम्भ हुई। समष्टिगत चेतना के कारण इस गद्य साहित्य में विषय की व्यापकता और इन गद्य शैलियो मे प्रकृत व्यावहारिकता है। विषयाधीन इनका शिल्प वर्णनात्मक, भावात्मक और पडिताऊपन से युक्त है। शैली-विषयक विविधता के कारण भाषा मे प्रवाह, परिष्कार, गद्यात्मकता और सक्षिप्ति का अभाव है, फिर भी यहाँ परिष्करण तथा सवरण की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। हिन्दी, उर्दू, रेख्ता, हिंदवी आदि से सम्मिलित एक नई भाषा के आविष्कार मे यह युग सचेष्ट दिखता है। इशाअल्लाखा की—"आनिया जानिया जो सासे हैं, उनके बिन ध्यान सब फासे हैं।" (रानी केतकी की कहानी) जैसी चटकीली, मटकीली, मुहावरेदार और चलती भाषा'

---

1 राजा शिवप्रसाद—हिन्दी भाषा सार, पृ० ४५

में अब कुछ गतिशीलता आती है। लल्लूलाल व सदल मिश्र की तुकांत एवं पंडिताऊ भाषा-प्रवृत्ति भी शनैः-शनैः न्यून हो जाती है ; यथा—"दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनि प्रीति बढ़ाय···पान की मिठाई, मोती महल की शीतलाई और दीप ज्योति की मंडताई, बहुत घबराय घर में आय, अति प्यार कर प्रिय को कंठ लगाय।" (प्रेम सागर) "तिस पीछे·····समुद्र को वह पायों पायों उतर गया।" (नासिकेतोपाख्यान)। कम्पनी शासन के इश्तहारनामे इस भाषा के निर्माण-क्रम में द्रष्टव्य हैं।[1] भाषा के इस त्रिकोण के अन्तर्गत राजा सितारेहिन्द 'आम फहम और खास पसन्द की शब्दावली' अपनाते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह संस्कृत की टकसाल स्थापित करते हैं और 'हिन्दी तथा उर्दू दो बोली न्यारी' मानते हैं। भाषा के प्रयोग और निर्माण में इन लेखकों का महत्त्व असंदिग्ध है। इन कृतियों में पर्याप्त मौलिकता तथा स्वच्छता नहीं है। यहाँ भाषा की भद्दी भूलें भी हैं जैसे—'स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं'—इस प्रकार के पंगु वाक्यांश प्रायः प्राप्य हैं। इतना निश्चित है कि भाषा की नीति- निर्धारण में इस बृहत्चतुष्टय का और भारतेन्दु-कालीन इस द्वन्द्व का प्रतिफल हिन्दी के विकास के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है।

हिंदी गद्य का प्रसारण और विस्तार विशेष रूप से द्विवेदी-युग में आरभ होता है। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, साहित्यिक संस्थाओं का संगठन, व्याकरणिक अनुशासन तथा अर्थबोधन आदि कार्य सम्यक् रूप में इसी युग में घटित होते हैं। 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही भाषा-शास्त्र और उसका वैज्ञानिक प्रयोग आरंभ हो जाता है, साथ ही साहित्य की समस्त विधाएं—नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना जीवनी, संस्मरण आदि का लेखन भी प्रारम्भ होता है। विराम-चिह्नों और मात्राओं के पूर्ण सयमन से भाषा-प्रयोग में और शुद्धता आती है। सामाजिक सुधार का लक्ष्य लेकर पौराणिक, शैक्षिक, औपदेशिक और प्रचारक विषय इस युग में विविध साहित्य-रूपों में प्रस्तुत किए गए हैं। विज्ञान, इतिहास, धर्म, संस्कृति, सामाजिक अध्ययन, राजनीति, राष्ट्रीयता आदि से सम्बन्धित अनेक कृतियाँ इस युग में सजित हुई है। अनुवाद के अतिरिक्त द्विवेदी-युग विविध गद्य-रूपों में मौलिकता की सृष्टि भी करता रहा है। चुस्त और दुरुस्त मुहावरे, संस्कृत और उर्दू मिश्रित भावानुकूल सरस व्यंजक भाषा, टकसाली शब्दयोजना और रोचक रचनातंत्र इस युग की विशेषता रही है। इस युग में खड़ी बोली को पद्य की भी भाषा घोषित किया गया और विस्तृत रूप से वह जीवन की व्यावहारिक, उपयोगी तथा वैज्ञानिक भाषा सिद्ध हुई। इस कालावधि में साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी गद्य-रचनात्मक और समीक्षात्मक इन दो श्रेणियों में विभक्त हो गया। लेखकों की अर्थोद्घाटिनी विचार-सूत्रता, सघन वैचारिकता, सूक्ष्म और गूढ़ भावों का संगुम्फन, विशद सिद्धान्त, नए जीवन का स्फुरण और निर्दिष्ट विचारधारा का सूत्रपात द्विवेदी युग का विशिष्ट पुरस्कार है। वस्तुतः व्याकरणिक शिथिलता का परिहार, व्यग्यात्मक

---

१. आचार्य शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७४

वादविवाद, पारस्परिक दोष-दर्शन, शाब्दिक भुठलों का द्वन्द्व, शास्त्रसम्मत निष्कर्षों की छानबीन, बहुज्ञता प्रदर्शन, पांडित्य की दक्षता का उद्घोष, अभिव्यंजना-सम्बन्धी उत्कृष्टता, तारतमिक चिंतन, अत्युक्तिपूर्ण उक्तियों का ऐकांतिक समर्थन तथा स्वशब्द-वादी सिद्धान्त-विश्लेषण और विषय-निरूपण सबंधी विविध प्रयास इस युग के अनि-वार्य लक्षण हैं। निश्चित है कि वैचारिक वैशद्य, भाव गाम्भीर्य तथा तात्त्विक समीक्षा का इस अवधि में श्रीगणेश होता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री पद्मसिंह शर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, लाला भगवानदीन, शिवनन्दनसहाय, बदरीनाथ भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय बालमुकुन्द गुप्त, मिश्र बन्धु, रूपनारायण पाण्डेय, देवकीनन्दन खत्री, राधिका-रमणसिंह, डॉ० श्यामसुन्दरदास, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माधवप्रसाद मिश्र आदि विभूतियाँ इसी युग की देन हैं। अस्तु हिन्दी गद्य के विकास युग का गौरव अक्षय है। 'सरस्वती', 'सुधा', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'सुकवि' एवं 'हंस' आदि पत्र भी इस विकास में सहायक रहे हैं। मौलिकता के क्षेत्र में यह युग उल्लेखनीय है। इस कालावधि में प्रायः गद्य की प्रत्येक प्रणाली आविष्कृत और परिष्कृत हुई है। हाँ, सत्साहित्य कहीं-कहीं अक्खड़िये लेखकों के कारण बाधित भी हुआ है। परम्परा से प्राप्त यति भंग, तुलनात्मक खींचा-तानी, छिद्रान्वेषण और कलह भी इसी प्रवृत्ति की देन है। उदाहरणार्थ, देव और बिहारी का द्वन्द्व, 'चौबेजी का चाइयापन', 'लालाजी की लनतरानी' आदि रचनाएँ इसी प्रवृत्ति की परिणति है। भाषा और अभिव्यंजना के परिष्कार का न्यूनाधिक श्रेय इस युग को अवश्य है, पर उसके कलेवर में श्री सौन्दर्य तथा रस का पूर्ण संचार अभी तक नहीं हो सका था। छायावाद-युग यहीं गद्य कलात्मक परिपूर्णता प्राप्त करता है।

छायावाद-युग हिन्दी गद्य की प्रौढ़ता का उत्कर्ष काल है। पाश्चात्य साहित्य के अभियोग से इस कालावधि में अनेक नए शिल्पों का आविष्कार होता है और गद्य के कलेवर में अधिकाधिक सुघरता की सृष्टि होती है। इस शिल्प में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता, निखार और परिष्कार आता है। यह गद्य अपनी सीमा में कवित्व से सराबोर होकर अलंकृत संगीत जैसा बन जाता है और उसी विधा के परिपूर्णता की उच्चतम स्थिति पर पहुँच जाती है। छायावादी गद्य में युग धर्म की नूतन उद्भावनाएँ, वैयक्तिक भंगिमाओं द्वारा नए-नए रचना विधानों में ढल जाती हैं और मन स्थिति के अनुरूप अंतर्मूलक स्थापनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन रचनातंत्रों के स्वरूप-संगठन में अनेक-रूपता दिखाई देता है। अंग्रेजी बंगला और कतिपय अन्य भाषाओं का सम्यक् प्रभाव इस गद्य पर परिलक्षित होता है, फलतः प्रौढ़तम कलाकृतियाँ प्रणीत होती रही हैं। परम्परानुसार अनेक समस्याएँ व्यक्ति-वैचित्र्य सहित धर्म, राष्ट्रीय संस्कृति तथा सामाजिक-चेतना से युक्त होकर सर्वांगीण हुई हैं। साहित्यिक सिद्धान्तों का विशद तत्त्वालोचन, ललित और प्रभावोत्पादक साहित्यिक निबंध, सरस, प्रांजल एवं विचारो-त्तेजक नाटक, प्रौढ़ एकांकी, सूक्ष्म रेखाचित्र, लघुकथाएँ, भावाश्रित, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित कलात्मक कथा कृतियाँ, विश्वस्त संस्मरण, यथार्थ

आदर्श समन्वित उपन्यास, समस्या-नाटक, प्रतीक नाटक, अभिनेय (रंगमंचीय) नाटक और विशिष्ट गद्य-काव्य इसी युग की अमूल्य निधि हैं। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, माखनलाल चतुर्वेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, वियोगी हरि, मोहनलाल महतो, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास, डॉ० रघुवीर, दिनकर, बेनीपुरी, बच्चन आदि न्यूनाधिक रूप में इसी शिल्प के प्रयोक्ता हैं।

हिंदी-गद्य के विकास-क्रम में जिन-जिन विधाओं का उद्भव और विकास हुआ है, उसका संक्षिप्त सर्वेक्षण करते हुए छायावादी गद्य के शिल्प का प्रायोगिक तथा शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट करना और कवि पंत के गद्य-साहित्य का समग्र मूल्यांकन करना इस सन्दर्भ में प्रयोजनीय है।

नाटक

दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाटक को भारतीय साहित्य की सर्वसमृद्ध तथा सर्व-प्राचीन परम्परा के रूप मे स्वीकार किया गया है। पौराणिक उल्लेखों के आधार पर नाटक 'पंचम् वेद' है, जिसकी रचना का श्रेय ब्रह्मा, शिव, पार्वती, नांदी, विश्वकर्मा, इन्द्र, देव, राक्षस आदि शक्तियों को है।

व्युत्पत्यर्थ तथा धात्वर्थ—पाणिनि नाटक को 'नट्'[1] धातु से व्युत्पन्न मानते हैं। पश्चिमी विद्वान् वेबर और मोनियर आदि इसे 'नृत्' का प्राकृत रूप मानते हैं। 'नाट्य-दर्पण' 'नाट्'[2] धातु से इसकी उत्पत्ति सिद्ध करता है। सायण के भाष्य में इसे 'व्याप्नोति' कहा गया है। 'नट्' धातु प्रायः अभिनय एवं गात्र-विक्षेपण के लिए प्रयुक्त हुई है। दशरूपककार ने 'अवस्था की अनुकृति' को नाटक कहा है।[3] रूपक को भी विद्वानों ने नाटक से कुछ भिन्न माना है। 'महिमभट्ट' ने इसे काव्य स्वीकार किया है।[4] और भरत ने इसे सर्वसाधारण की आनन्दोपलब्धि का साधन माना है। संस्कृत काव्य-शास्त्रों ने इसका विस्तृत स्वरूप निर्धारित किया है और दशरूपकों मे नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक, ईहामृग के लक्षण प्रकट किये है। नाट्य तत्त्ववेत्ताओं ने इसके वस्तु, पात्र, रस, अभिनय—ये चार तत्त्व निर्दिष्ट किए है।

भारतीय नाट्य-साहित्य अत्यधिक समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है। आचार्यों ने प्रत्येक तत्त्व पर गहन विचारणा प्रस्तुत की है। कथावस्तु, पंच कार्यावस्थाएं, पंच सन्धियां, अर्थप्रकृतियाँ, पात्र-पात्रियाँ, रस, संलाप, अभिनय (रंगमंच), देशकाल, वातावरण, उद्देश्य आदि का विवेचन निश्चय ही भारतीय (संस्कृत) नाट्य-शास्त्र में अत्यंत विशद है। हिन्दी नाटक संस्कृत काव्य के पारम्परित प्रभाव से प्रणोदित होकर गद्य में अवतरित

---

१. सिद्धान्त-कौमुदी—४-३-१२९
२. रामचन्द्र गुणचंद्र : नाट्यदर्पण
३. धनंजय-दशरूपक, प्रथम प्रकरण ९-७
४. महिम भट्ट—व्यक्ति विवेक, अध्याय १, पृ० २०

हुआ है। गद्य युग मे अनूदित और स्फुट मौलिक नाट्य-रचनाओं के अतिरिक्त रूपक का क्रमिक विकास भी दृष्टिगत होता है। स्वांग, रामलीला, रास, शास्त्रार्थ-योजना, सामूहिक नृत्य, छाया चित्र, कठपुतली-नृत्य और मेंहदी के अतिरिक्त शुद्ध नाट्यकृतियाँ १६वीं शताब्दी से विरचित होने लगी। भारतेन्दु युग मे गीति-नाट्य तत्व की सृष्टि होती है। भारतेन्दु युगीन नाटक 'विद्यासुन्दर' और 'गोविन्द हुलास' इस परम्परा का प्रवर्तन करते हैं। इसके पश्चात् पारसी थिएटर की प्रतिक्रियास्वरूप नाट्य-कला मे कुछ विशिष्ट प्रयोग होते हैं। भारतेन्दुकृत 'चन्द्रावली नाटिका', 'नीलदेवी', सतीप्रताप, 'भारत-दुर्दशा' आदि कृतियाँ अपने युग की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इनमें चमत्कारपूर्ण घटनाओं का चयन है। इन कृतियों मे प्रवाहहीन कथानक, निरुद्देश्य दृश्य विधान, असयमित सवाद, अस्वाभाविक पात्र और अनभिनेयता का प्राधान्य है। सवादो मे पद्यात्मकता का आधिक्य है और उद्देश्य के रूप मे समाज-सुधार, राष्ट्रीयता और प्रचार का बोल-बाला है। इस युग के उत्तरार्द्ध मे शेक्सपियर और फारसी नाटको के प्रभाव के कारण रोमाचकारी, रोचक, साहसिक एव पौराणिक आख्यानो पर आधृत कथाएँ प्रस्तुत होती रही हैं। इसी बीच प्रहसन और रूपान्तरो की ओर भी स्फुट प्रयास हुए, पर गद्य कारिता की दृष्टि से ये प्रयोग असफल ही रहे हैं। बीसवी शती मे (द्विवेदी-युग के अन्तर्गत) 'कृष्णार्जुन युद्ध' (माखनलाल चतुर्वेदी) 'वरमाला' (गोविन्द वल्लभ पंत) 'दुर्गावती' (बदरीनाथ भट्ट) आदि कृतियाँ सम्मुख आती हैं। इनमे अभिनेयतापूर्ण अक-दृश्य योजना, कवित्वपूर्ण शिल्प, सूक्ष्म चरित्र विश्लेषण, आधुनिक परिवेश स्वाभाविक सवाद और प्रभावोत्पादकता का पर्याप्त समावेश है, किन्तु कला मे परिपूर्णता नहीं आ पायी है। नाटक कला का उत्कृष्ट स्वरूप छायावाद युग मे अपने प्रकृष्ट रूप से प्रकट होता है। सर्वप्रथम प्रसादजी पूर्ववर्ती नाटको की परपरागत शिल्पविधि मे अनेक परिवर्तन करके उसे स्थिर रूप प्रदान करते हैं। सस्कृत, बगला और पाश्चात्य कला के सम्मिश्रण से हिंदी नाटक का अपना मौलिक शिल्प स्थापित होता है। प्रसाद द्वारा ऐतिहासिक[1], पौराणिक[2], सामाजिक, गीतात्मक प्रतीकात्मक[3], एकाकी[4], समस्या नाटक[5] आदि रचनाएँ आविष्कृत होते हैं। पंतजी इसी समय प्रतीकरूपक 'ज्योत्स्ना' द्वारा सौन्दर्यवादी दर्शन का समारम्भ करते हैं। उनकी इस कला मे स्वच्छदतावादी कवित्व, कथानक मे विलक्षणता, चित्रण मे विशदता-उक्तियो मे वैचित्र्य वैविध्य, पात्रो मे प्रवेग-पूर्ण भावुकता, दार्शनिक गहनता, भाषा मे सवेदना, अलकरण प्रभावोत्पादकता, शैली मे

---

१ प्रसाद—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, राज्यश्री, विशाख, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित आदि
२ „ —जनमेजय का नागयज्ञ, सज्जन
३ „ —कामना, पंत—ज्योत्स्ना
४ „ —एक घूट
५ „ —ध्रुवस्वामिनी

प्रेषणीयता, देशकाल में वैशिष्ट्य, उद्देश्य में व्यापकता, अभिनय में पूर्णता और प्रतिपाद्य में रसात्मकता है। नाट्य-कला के समस्त तत्त्व एक साथ ही इस कृति में उपलब्ध होते हैं। पूर्व में प्रचलित परम्परा-पंत का यह नाट्य-प्रयोग आधुनिक युग की माँग के अनुकूल बहुमुखी रुचि का सर्वांगीण विकास करता है। यह निर्विवाद स्वीकार्य है कि अपने वस्तु-सौन्दर्य, घटना-वैचित्र्य, व्यक्तित्व-निरूपण, स्वगत-संभाषण, परिस्थिति-योजना, पात्रानुकूल भाषा और अभिनव शिल्प-प्रयोग के कारण पंत की यह आलोच्य नाट्यकृति अपने-आप में अनूठी एवं विलक्षण है।

उपन्यास

भरत के नाट्यशास्त्र में उपन्यास को प्रतिमुख सन्धि के उपभेद रूप में 'उपपन्ति कृतोह्यर्थः' स्वीकार किया गया था, पर वह अर्थ आज लुप्त हो गया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उप+नि+अस्+घञ्+न्यास अर्थात् एक प्रकार की धरोहर या प्रतिभूति ही उपन्यास है। नीति वचनों में भी 'न्यास' का यही अर्थ है जैसे—'दुःखं न्यासस्य रक्षणम्'। कहीं-कहीं टीका-पद्धति को भी 'न्यास' कहा जाता है। 'अनुत्सूत्र पदन्यासां' इस सन्दर्भ में इसे पदन्यास कहा गया है। वस्तुतः अर्थ व्यक्त करने का प्रयोग वचनोपन्यास है—"निर्यावः शनकैरलीक वचनोपन्यास मालीजनः।"[1] हिन्दी 'शब्दासागर' के आधार पर—उपन्यास—संज्ञा, पुल्लिंग, संस्कृत-वाक्य का उपक्रम, बँधान, बात की लपेट। बात का लच्छा।[2] साहित्य की विधा के रूप में उपन्यास कथा-साहित्य का विशेष अंग है। यह बंगला शब्द, जो 'बंगदर्शन' (१८६४) में प्रथमतः प्रयुक्त हुआ, पाठक तथा श्रोतारं मनोरंजनार्थ कल्पित गद्य उपकथा[3] के रूप में माना जाता है। संस्कृत कोषकारों ने इसे किसी अर्थ की युक्तिपूर्ण प्रस्तुति कहा है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे अनेक प्रकारों में विभाजित तथा परिभाषित किया है और इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कल्पना-प्रवण तथा साहियिक रचना स्वीकार किया है।[4] इस कथा-विधान द्वारा काव्यात्मक सत्य बाह्य जगत् के वास्तविक रूप में चित्रित होता है। हक्सले ने इसे तथ्य सूचक न मानकर कथात्मक रूप में स्वीकार किया है।[5] एलेन के शब्दों में अच्छा उपन्यासकार केवल अपने खोजे हुए 'आत्म, का परिचय देता है।[6] अन्य विद्वानों ने इसे समय के इतिहास का रोचक संस्मरण माना है। सेसिल के मत मे उपन्यास हमें जीवन्त जगत् में पहुँचा

---

१. अमसकशतक, पृष्ठ २३,
२. हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ३४६
३. सरल बंगला अभिधान, पृष्ठ २५६
४. Bernard–The world of Fiction, p. 296.
५. Allen-Reading of Novel, p. 217
६. Aspects of the Novel, Huxley, p. 19.

देता है। इलियट के मतानुसार मानवतावाद के आठो लक्षण (सहज बुद्धि, कट्टरता, विरोध, मानवमूल्य, सद्भावना, संस्कृति आदि) इसी व्यावहारिक स्तर पर आधृत हैं। इसका आधार मूलत यथार्थवाद मे प्रतिष्ठित किया गया है[1] जो कि एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत अपने म पूर्ण है। कुछ विद्वान इसे बनावटी इतिहास मानते हैं[2], फिर भी मूलत उपन्यास मानवीय अनुभव का कलात्मक निरूपण है। आचार्य हजारी प्रसादद्विवेदी ने 'न्यास' के आधार पर इस विधा की प्रामाणिक व्याख्या की है—'ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है।'[3], आचार्य शुक्लजी ने भी वर्तमान औपन्यासिक कला की उपयोगिता बडी उदारता के साथ प्रामाणित करते हुए कहा है कि उपन्यास वस्तुत समाज का मर्म पकड रहा है 'उसके भिन्न भिन्न वर्गों म जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नही करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं।'[4] जैनेन्द्रजी इसमे मानवीयता का उद्घाटन देखते हैं।[5] कथासम्राट् प्रेमचन्द उपन्यास को मानवचरित्र का चित्र मानते हैं—"मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।"[6] डॉ० श्यामसुन्दरदास न इसे वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा स्वीकार किया है (साहित्यालोचन)। प्रचलन के आधार पर इसे आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया है।[7] शिल्प की दृष्टि से विद्वानो ने इसे कहानी का विकसित रूप और अभिव्यंजना का संवेदनापूर्ण साधन माना है।[8] सारांशत, उपन्यास जीवन की सत्यानुकृति है। परिभाषा के रूप मे हम कह सकते है कि "उपन्यास कार्य-कारण शृंखला मे बँधा हुआ वह गद्यात्मक कथानक है जिसमे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओ द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप स उद्घाटन किया जाता है।[9]

उपन्यास कला के उद्भव और विकास के चिह्न कुछ विद्वान संस्कृत की कथा कृतियों, जैसे कादम्बरी, दशकुमारचरित, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, 'नासिकेतो-

---

१ An Introduction to English Novel, p 21

२ Austin–Theory of Literature, p 225

३ हजारी प्रसाद द्विवेदी—साहित्य संदेश, उपन्यास अंक, १६४०, पृ० ४२

४ रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३६

५ जैनेन्द्र—साहित्य का श्रेय और प्रेय-पृ० १८८

६ प्रेमचंद—कुछ विचार, पृ० ४२

७ शिवदानसिंह चौहान—हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० १४१

८ शिवनारायण श्रीवास्तव—हिंदी उपन्यास, पृ० २

६ गुलाबराय—काव्य के रूप, पृ० १५६

पाख्यान' आदि आख्यानों, उपाख्यानों और पुराख्यानों में पाते हैं। आचार्य शुक्ल ने इनके अनुवादों से ही भारतेन्दु-युग की कथा-प्रवृत्ति का उद्भव एवं विकास माना है। विकास-क्रम की दृष्टि से कौतुक कथाएँ, नीतिकथाएँ, गाथाएँ (यथा—किस्सा तोता मैना, बैताल पच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी आदि) की परम्परा में ही आज की कथा-कृतियाँ आती हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास भी संस्कृत साहित्य से इस विधा का विकास सिद्ध करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे जातीय कथाकाव्य मानते हैं और डॉ० वार्ष्णेय हिन्दी उपन्यास का सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन औपन्यासिक परम्परा और पौराणिक कथाओं से जोड़ना विडम्बना मात्र मानते हैं।[१] श्री नलिन विलोचन शर्मा ने उपन्यास की स्थिति को हिन्दी काव्य से सर्वथा भिन्न सिद्ध किया है—"हिन्दी का उपन्यास-साहित्य वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पश्चिम से नहीं लाया गया तो उसका बगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई।" (आलोचना, वर्ष २, खण्ड १) आज का हिन्दी उपन्यास कई तत्वों के योग से निर्मित हुआ है। इसका विकासक्रम 'भारतेन्दु युग' से ग्रहण कर सकते है। वस्तुतः उपन्यास मानव-जीवन के सत्य की रसात्मक अभिव्यक्ति है और ऐसी कल्पनात्मक गद्यकृति है, "जिसमें वास्तविक जीवन का प्रतिविधान करने वाले चरित्रों एवं व्यापारों को कार्यकारण शृंखलाबद्ध एक अपेक्षाकृत विस्तृत कथानक के द्वारा निरूपित किया जाए।"[२] प्राचीन परम्पराएँ उपन्यास के प्रति सिद्धान्ततः उदार नहीं थीं। गोल्डस्मिथ आदि विद्वानों ने तो यहाँ तक घोषित किया था कि "never let your son touch a novel", किन्तु आज उपन्यास नए युग का सर्वाधिक सम्भावनाओं से युक्त साहित्य रूप बन गया है। उपन्यास कृतियों का गौरव आज असन्दिग्ध है; यहाँ तक कि नोबुल पुरस्कार के विजेता अधिकांशतः उपन्यास-लेखक ही हुए हैं।[३] इससे जनतंत्र को प्रश्रय की प्राप्ति प्रमाणित हुई है।[४]

तात्विक दृष्टि से उपन्यास कुतूहल, मनोरंजन और अर्थसिद्धि की पूर्ति करता है। इसके तत्वों में वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली, उद्देश्य आदि प्रधान है। इनमें भी कथा, पात्र और कार्य व्यापार मुख्य हैं। उपन्यास के प्रमुख उपकरण हैं—कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन, परिवेश, प्रयोजन तथा वर्णन।[५] इस शिल्प में वर्णनात्मकता, विचारात्मकता, भावात्मकता, कलात्मकता और चित्रात्मकता अनिवार्यतः समाविष्ट होनी चाहिये। इसी के आधार पर वह विवरण, स्केच, समाचारपत्र, रिपोर्ताज,

---

१. डॉ० वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ९३, ९४
२. डॉ० महेन्द्र—हिन्दी उपन्यासः एक सर्वेक्षण, पृ० ३
३. विनोदशंकर व्यास—उपन्यास कला, पृ० ८८
४. रामस्वरूप चतुर्वेदी—आलोचना, उपन्यास विशेषांक, अक्तूबर, १९५४ पृ० ५
५. डॉ० रामअवध द्विवेदी—आलोचना, उपन्यास विशेषांक अक्तूबर १९५४ पृ० ३३

संवाद, आत्मकथा, दैनंदिनी, आख्यान, संस्मरण आदि का जैसा रूप धारण करता है। औपन्यासिक चरित्रों की प्रमुख विशेषता है—स्थिरता व गतिशीलता। उनका पात्रत्व क्रमश निर्मित और विकसित होता रहता है। इसके कथोपकथन बड़े नाटकीय, विशेषत चरित्रद्योतक, सूचनात्मक तथा देशकाल, वातावरण, स्थानीय रंग, सेटिंग और उद्देश्य आदि का प्रकट करते हैं। नीति, उपदेश और आन्तरिक आह्लाद सृष्टि के अतिरिक्त उपन्यास व्यक्तित्व के वैविध्य एवं समृद्धि का सूचक होता है। वह मूलत मनोरंजन, उपदेश, व्यापक जीवन के उद्देश्य और कला सिद्धान्त का प्रतिपादक होता है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी से प्रेरित प्रभावित होकर अपने मौलिक स्तर पर अत्यधिक परिवर्तित परिवर्द्धित होता जा रहा है। प्रेमचन्दजी के पूर्व से ही इसकी प्रवृत्तियाँ समय समय पर परिवर्तित होती रही हैं। परिणामत पौराणिक, सामाजिक, उपदेश प्रधान, मनोरंजन प्रधान, ऐतिहासिक, राजनैतिक, तिलिस्मी, भाव प्रधान आदि कितनी ही उपन्यास श्रेणियाँ प्रचलित हुई। 'परीक्षा गुरु'[1] 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'सौ अजान एक सुजान'[2] ठेठ हिन्दी का ठाठ'[3] 'चन्द्रकांता-सन्तति',[4] 'चतुरा 'चचला',[5] 'वीरमणि,[6] 'स्वर्गीय कुसुम'[7] आदि कृतियाँ विकासक्रम की दृष्टि स उल्लेखनीय हैं। इसी स्तर पर एक निश्चित उपन्यास शिल्प की स्थापना होती है। आचार्य शुक्ल खत्रीजी को हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार मानते हैं। यह निश्चित है कि खत्रीजी की इन कृतियों से प्रथम बार जन-साधारण मे हिन्दी गद्य का प्रचार और विस्तार हुआ है। चमत्कार और मनोरंजन के अतिरिक्त यद्यपि इनमे और तत्वों का अभाव है, पर हर दिशा का सूक्ष्म संकेत यहाँ उपलब्ध होता है। प्रेमचन्द युग मे यथार्थपरक, आदर्श प्रेरित एवं समाजोपयोगी कला कृतिया प्रस्तुत की गईं। प्रेमचन्दोत्तर युग मे प्रसाद, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, नागार्जुन, चण्डीप्रसाद हृदयेश, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, ऋषभचरण जैन, बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, उदयशंकर भट्ट, अमृतराय, डॉ० देवराज, मोहन राकेश, रांगेयराघव, फणीश्वर नाथ रेणु, लक्ष्मीनारायणलाल, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर आदि कितने ही उपन्यासकारों ने इस विधा को विकसित किया है। आज घटना-चित्रण, चरित्र-

---

१ श्रीनिवासदास
२ बालकृष्ण भट्ट
३ हरिऔध
४. देवकीनन्दन खत्री
५ गोपालराम गहमरी
६ मिश्रबन्धु
७ किशोरीलाल गोस्वामी

विश्लेपण तथा सामाजिक समस्याओं के निरूपण के साथ-साथ मानवीय अन्तर-रहस्यों के मनोविश्लेपण तक यह कला पहुँच गयी है। इसी सुदीर्घ परम्परा में कवि पंत ने भी अपना योगदान दिया है जो इस विकास-क्रम में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। पंतजी की प्रथम कृति 'हार' नवोदित लेखक की भावी गद्य-गरिमा का संकेत देती है। उनकी भावी कृति 'क्रमशः' इसी शुभ संकल्प की प्रतीक है। सारांशेन, यह प्रकट है कि हिन्दी-उपन्यास की इस परम्परा में पन्तजी की यह आलोच्य कृति महत्त्वपूर्ण है। वे यहाँ अपने सहज कवित्व की भूमि पर यथार्थ का अंचल पकड़कर अवतीर्ण हुए हैं, और अपनी अभिव्यक्ति की कैशोर्य भावात्मकता, व्यक्तित्व और घटनाओं के रहस्य में लुक-छिपकर आँख-मिचौनी-सी खेलते रहे है।

कहानी

हिन्दी गद्य या कथा-साहित्य में कहानी की परम्परा वड़ी समृद्ध है। वेदोपनिपद, धर्म सूक्त, जातक कथाएँ, पुराख्यान, वृहत्कथा, कथासरित्सागर, पंचतन्त्र, प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं से लेकर अद्यावधि हिन्दी कहानी सतत विकसित होती रही है। मानवीय जिज्ञासा आत्मानुरंजन, उपदेश एवं सिद्धान्त-निरूपण के उद्देश्य से सम्यक् निर्णय तथा निगूढ़ आत्मदर्शन के साधन रूप में कथा-शैली का प्रयोग करती रही है। आज का कथा-साहित्य पाश्चात्य कला से प्रेरित होने के कारण कहानी, लघुकथा, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज (सूचनिका) आदि अनेक शिल्पों में विभक्त हो गया है, तथापि इनका उत्स एक ही मूल से है; हाँ, इन विभिन्न कथारूपों में न्यूनाधिक वैषम्य अवश्य है। कहानी का रचनातन्त्र सृजनशील अनुभूतियों पर अवलम्बित है। या कहें कि अनुभूतियाँ ही कारयित्री प्रतिभा से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।[1] डॉ०जगन्नाथ शर्मा कहानी के रचना-विधान को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"कहानी गद्य-रचना का वह कथा-सम्पृक्त स्वरूप है, जिसमें सामान्यतः लघु विस्तार के साथ किसी एक ही विपय अथवा वाक्य का उत्कृष्ट संवेदन इस प्रकार किया गया हो कि वह अपने में सम्पूर्ण हो और उसके विभिन्न तत्त्व एकोन्मुख होकर प्रभावान्विति में पूर्ण योग देते हों।"[2] प्रेमचन्द जी ने गल्प को ऐसी कविता माना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है। यह मूलभाव की समष्टि और एकोन्मुखता कहानी को उपन्यास से अनिवार्यतः पृथक् कर देती है। इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटानिका के अनुसार अन्विति और अन्तस्संगठन ही कहानी का मूलाधार है।[3]

कहानी-लेखक में साहित्यिक प्रतिभा के साथ-साथ कलात्मक समानुभूति

---

१. प्रेमचन्द—कुछ विचार, पृ० ४७

२. डॉ० जगन्नाथ शर्मा—कहानी का रचना विधान, पृ० १४

३. Encyclopaedia of Britanica, Vol. XX p, 580

आवश्यक होती है।[1] हिन्दी कहानीकारों ने विविध रूपों में कहानी को परिभाषित किया है और उसी के साथ अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट किया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास इसे निश्चित लक्ष्य व प्रभावसहित नाटकीय आख्यान मानते हैं। जैनेन्द्रजी ने इसे जिज्ञासा का समाधान सिद्ध किया है। रायकृष्णदास ने इसे सरस सौन्दर्य की झलक स्वीकार किया है। अज्ञेय जीवन को ही कहानी मानकर उसे प्रतिच्छाया रूप में देखते हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी ने कहानी का परिस्थितियों के संघर्ष में घटित किया है। बाबू गुलाब राय ने इसे व्यक्ति के द्रुत घटना और उत्थान पतनपूर्ण पात्रों का वर्णन कहा है। इसी प्रकार अन्य अनेक मत उपलब्ध होते तथा हो सकते हैं। कहानी में इन सभी तत्वों की संतुलित रूपरेखा और सुगठित तथा आनुपातिक समायोजना होती है। कहानी वस्तुतः कथात्मक, विवरणात्मक एवं वर्णनात्मक गद्य रचना है, जिसका लघुविस्तारी रूप स्वयं में पूर्ण होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। लघुकथा को परिभाषित करने के लिए देश काल की सीमा निर्धारित करके उसके लक्षण प्रकट किए गये हैं, किन्तु यही उसका अनिवार्य स्वरूप नहीं हो सकता। इसकी मूलभूत घटनाओं में तीव्रता, चरित्रों में जीवन के सहज मनोभाव, परिस्थितियों में स्वाभाविक गति, प्रतिपाद्य में कथ्यकौशल, चित्रण में सजीव सौन्दर्य शिल्प में यथार्थ एवं कल्पना का रस, संवादों में नाटकीयता, आदि तथा अन्त में जिज्ञासापूर्ण चमत्कृति और समग्रत: प्रभावोत्पादकता अनिवार्य है। एच० जी० वेल्स ने इसे 'इफेक्ट ऑफ टोटलिटी' कहा है। इसके कथानक, शीर्षक, आरम्भ, अन्त और विकास के आयामों का अनुपात सुगठित होना चाहिए। इसमें स्थूलता, सूक्ष्मता, चित्रात्मकता, इतिवृत्तात्मकता और नाटकीयता का यथोचित निर्वाह भी होना चाहिए। कथानक की तीव्र गति के साथ साथ घटना का द्रुत पर्यवसान और आकस्मिक परिवर्तन चरम सीमा की सृष्टि करते हैं। कहानी के पात्रों में सजीवता और स्वाभाविकता अपेक्षित होती है, क्योंकि जो लेखक अपने पात्रों में जीवन की शक्तियाँ, अन्तर्द्वन्द्व और शाश्वत प्रश्नों को भरता है, वही अपने पाठकों के हृदय में चिरस्थायी स्थान पाता है। कहानी के कथोपकथन कथानक के विकास, चरित्र निर्माण और कुतूहल-सृष्टि में बहुत उपयोगी होते हैं। वातावरण का संयोजन कहानी का मेरुदण्ड है। इन्हीं मूल-तत्वों के आधार पर कहानी के अनेक प्रकार निर्दिष्ट किए गये हैं। जैसे—रचनातन्त्र के आधार पर—ऐतिहासिक, आत्मचरितात्मक, पत्र शैली, डायरी शैली, नाटकीय मिश्र शैली, प्राधान्य के अनुसार—घटना प्रधान, कार्य प्रधान, वातावरण-प्रधान, चरित्र-प्रधान, प्रभाव-प्रधान कहानियाँ, विषयानुसार—ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक मनोवैज्ञानिक, आंचलिक, प्रकृतिवादी, प्रतीकवादी, हास्यव्यंग्यात्मक आदि और कितनी ही श्रेणियाँ का रचना के आधार पर निर्मित की जा सकती हैं। हिन्दी कथा-क्षेत्र के अन्तर्गत ये समस्त रचनातन्त्र न्यूनाधिक रूप में व्यवहृत होते रहे हैं।

आधुनिक युग कहानी से घनिष्ठ रूप में परिचित है। संस्कृत के कथा-साहित्य

---

1 डॉ० देवराज—आधुनिक हिन्दी कहानी, आलोचना, वर्ष २, अंक १ पृ० १४५

के समानान्तर हिन्दी के आदिकाल में वार्ताएँ, चारणकथाएँ और उपाख्यान प्रचलित रहे हैं। इन रचनाओं में भाषा का आडम्बर, अद्भुत शब्दजाल, विविध प्रकार के लम्बे वर्णन तथा अवान्तर प्रसंग ही अधिक मिलते हैं। कथा-सौदर्य की ओर इन लेखकों की अभिरुचि कम पाई जाती है।[१] रासो और प्रेमाख्यानक परम्परा के पश्चात् गद्य-युग में अनेक पारसीक सांगीत कथाएं प्रचलित हुई है। मध्यकाल और पूर्व आधुनिक काल के अनन्तर लघुकथा की ओर अधिक प्रयास होने लगा है। 'रानी केतकी की कहानी,'[२] 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न',[३] 'राजा भोज का सपना'[४] आदि कहानियों से शनैः-शनैः इस शिल्प का आविर्भाव हुआ। 'सरस्वती' के प्रकाशन से आधुनिक हिन्दी-कहानी वास्तविक रूप और गति से आरम्भ होती है। 'इन्दुमती'[५], 'ग्यारह वर्ष का समय'[६] और 'ग्राम'[७] इसी प्रकार की प्रारम्भिक कहानियाँ हैं। अनेक मौलिक श्रेष्ठ कहानियाँ जैसे--कानों में कंगना'[८], 'परदेशी'[९] और 'सुखमय जीवन'[१०] भी इसी कालावधि में प्रकाशित होती है। कहानी-कला का विकास इसके पश्चात् और भी तीव्र गति से होता है और प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला' कौशिक, राधिकारमणसिंह, हृदयेश, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, रायकृष्ण दास, बेचन शर्मा उग्र, अमृतलाल नागर, अन्नपूर्णानन्द, भैरवप्रसाद गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और कितने ही कृतिकार साहित्य-संसार के समक्ष आते हैं। आधुनिक युग में मनःतत्त्वों के सूक्ष्म उद्घाटन तथा विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह कला और भी विकसित होती गई है। प्रमुख कहानीकारों के रूप में जैनेन्द्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीचरण वर्मा, इलचन्द्र जोशी, अश्क, यशपाल, नागार्जुन, अमृतराय, रांगेयराघव, शिवप्रसाद सिंह, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर,मोहन राकेश, मार्कण्डेय, कृष्णासोबती, मन्नू भण्डारी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, लक्ष्मीनारायणलाल, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, उषा प्रियंवदा, महीप सिंह आदि अनेक लेखक प्रसिद्ध हुए है। आज की कहानी की मूलभूत रचना-प्रक्रिया स्वप्न-सिद्धान्त, मनोविश्लेषण, यौनाकांक्षा, राष्ट्रीय समस्याएँ, अस्तित्व संघर्ष, परिवर्तित मानसिक संस्थान, अनास्था, विक्षोभ, अन्तस्संघर्ष, नई चेतना परम्परा तथा

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल---आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ११३
२. मुंशी इंशा अल्लाखां
३. भारतेन्दु
४. सितारेहिन्द
५. किशोरीलाल गोस्वामी
६. रामचन्द्र शुक्ल
७. प्रसाद
८. राधिकारमणसिंह
९. विश्वम्भरनाथ जिज्जा
१०. गुलेरी

युग विद्रोह से सम्बन्धित अनेक विषयों से सम्पन्न है । अतः यह कहानी हिन्दी गद्य-साहित्य के इतिहास में निश्चय ही महान् उपलब्धि मानी जा सकती है । वर्तमान कथा साहित्य अपनी अनेक शिल्पविधियों (रेखाचित्र, संस्मरण आदि) में विभक्त होकर वैविध्य अथवा अनेकरूपता का परिचय दे रहा है । चित्रांकन का मूलाधार लेकर रेखाचित्र की सृष्टि हो रही है । रेखा में आकार और शब्दों में चित्र भरकर तथ्यों का उद्घाटन करना इस कला का लक्षण है । रेखाचित्र में कथा का घात प्रतिघात और उसका आयोजित विकास मूलतः घटना को लेकर नहीं आता । संस्मरणों की भाँति यह ऐतिहासिकता की भी अपेक्षा नहीं करता । रेखाचित्र बहुत-कुछ कथातत्त्वों के अनुकूल ही होता है । वस्तुतः रेखाचित्र एक व्यक्ति का वास्तविक रूपांकन है । संस्मरण प्रायः इतिहास (विगत कथा) के आधार पर विकसित होता है । कहानी की अपेक्षा ये दोनों कथारूप अधिक मार्मिक होते हैं, केवल मर्म-चित्र[1] ही इनका लक्ष्य रहता है । कहानी में सामाजिकता और गतिशीलता अधिक रहती है । रेखाचित्र उतने गतिशील नहीं रहते । उनके लिए स्थिरता आवश्यक है । रेखाचित्र एक व्यक्ति की चित्रात्मक व्याख्या करता है । यहाँ लेखक और कथ्य का सामंजस्य रहता है, अतः विषय में पूर्ण एकात्मकता आ जाती है । कहानी की रचना तटस्थ रूप में होती है, इसीलिए कहानी में रस प्राप्ति भी अधिक होती है । 'रेखाचित्र में किसी वस्तु, मनुष्य या स्थान के बाह्य रूप से उसकी आन्तरिक सुन्दरता, कुरूपता, सम्पन्नता व विषमता को पकड़ने की चेष्टा अधिक होती है । उसमें 'अनुभूति और अनुभाव' का चित्रण ही मुख्य है ।'[2] रेखाचित्र आज की द्रुतगामी वास्तविकता का निश्चित परिणाम है । इसमें सौंदर्यानुभूति के स्थायी तत्त्व न्यून होते हैं । आज का लेखक यथार्थ के आधार पर स्थूल रूपों का सूक्ष्म चित्रों में मूर्त करता है । रिपोर्ताज का हिन्दी में अभी कुछ अभाव है । यों, यह जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता पर प्रकाश डालने में सबसे अधिक सक्षम है । पंतजी की इन सभी विधाओं में यत्किंचित् गति है । उन्होंने काव्य-कल्पना, सौंदर्य, प्रणय, रहस्य, मनस्तत्त्व, अन्तर्द्वन्द्व, सामाजिक यथार्थ आदि विषयों को लेकर पाँच कहानियों की सृष्टि की है । साथ ही व्यंग्य, विनोद, हास्ययुक्त तथा यथार्थपूर्ण रेखाचित्र भी प्रस्तुत किए हैं । उन्होंने अपने रेखाचित्रों में अनेक संस्मरण तथा आत्मकथ्य भी व्यक्त किये हैं । पंतजी की प्रारम्भिक कहानियाँ विविधता की परिचायक हैं । संस्मरण और आत्म संस्मरण के क्षेत्र में उनका 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', स्फुट निबन्ध तथा कहानियाँ यथास्थल उल्लेखनीय हैं । रिपोर्ताज (सूचनिका) की दिशा में उनके प्रयास कुछ अधूरे हैं, पर अन्य विधाओं में उनका योगदान अपना वैशिष्ट्य रखता है ।

---

१ डॉ० नगेन्द्र—विचार और विश्लेषण, पृ० ८१

२ शिवदानसिंह चौहान—साहित्यानुशीलन, पृ० ४८-४६

निवन्ध

"गद्य यदि कवियों की कसौटी है तो निवन्ध गद्य की कसौटी है" आचार्य शुक्लजी का यह कथन नितांत संगत है। हिन्दी निवन्ध गद्य के साथ-साथ प्रादुर्भूत होकर आज की इस स्थिति तक पहुँचा है। निवन्ध वस्तुत: तर्क-बुद्धि-सम्मत, विषयगत विचारों की शृंखला है। "भावों और विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य का प्रचलन हुआ उसे ही निवन्ध साहित्य की संज्ञा प्रदान की गई।"[1] निवन्ध या 'एसे' का व्युत्पत्यर्थ है—प्रयत्न, अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण, ग्रन्थन या वन्धन। लैटिन के इस शव्द (एसे) का मूल अर्थ है—'अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति'। निवंध मूलत: लालित्य-विधायक रचना है। जॉन्सन ने मन की अपरिपक्व, स्वच्छंद व विशृंखल विचार-तरंग को निवन्ध माना है, जो सदैव अनियमित और अपच रहती है। प्रीस्टले ने इसे निवन्धकार की स्वच्छंद साहित्यिक रचना कहा है। वस्तुत: "Style is the man of himself." राग, कल्पना, बुद्धि और शैली इन चार तत्वों के समावेश से यह रचना सुव्यवस्थित, तारतमित और सुसंगठित वनती है। इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटानिका के अनुसार —"निवंध में वैयक्तिकता की रक्षा आवश्यक है, जिससे रचना में निजीपन, संगति, सम्बद्धता और अनुपात सुरक्षित रहे।" शुक्लजी लेखक के व्यक्तित्व और व्यक्तिगत विशेषताओं को निवन्ध स्वीकार करते हैं। वावू गुलावराय ने इसे सीमित आकार के भीतर सौष्ठव और स्वच्छन्दतापूर्ण प्रतिपादन माना है। लेखक की सामयिक चित्तवृत्ति, अनुभूति और भावना का आदर्श निवन्ध में पूर्ण चारुत्व के साथ अभिव्यक्त होता है। इसमें विविध रूप-जगत् के प्रति भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया भी स्पष्ट होती है। इस प्रकार की दृष्टि से निवन्ध को उपदेशात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक, संस्मरणात्मक, तथ्यातथ्य-निरूपक, ऐतिहासिक, विचारात्मक, विवेचनात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक, मनोविश्लेषणात्मक और हास्य-व्यंग्य आदि अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। निवन्ध चूंकि साहित्य का एक अंग है, इसलिए उसे कलात्मक और अनुरजंनात्मक होना ही चाहिए। निवंध के कलेवर में जटिल तत्वों की मीमांसा भी सरस हो जाती है। डॉ० श्यामसुंदरदास (साहित्यालोचन), आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (आध्यात्मिकी, रसज्ञरंजन), आचार्य शुक्ल (चिंतामणि), वालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी, सरदार पूर्णसिंह, पं० नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, गुलावराय और डॉ० नगेन्द्र आदि में वौद्धिकता होते हुए भी पर्याप्त मात्रा में रमणीयता भी है। भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन, 'हिन्दी-प्रदीप' 'कवि-वचन सुधा', 'सार-सुधानिधि', 'सरस्वती', 'माधुरी' 'सुधा' 'समालोचक, आदि पत्रिकाएँ निवन्ध का वास्तविक रूप प्रकट करती है और उनके माध्यम

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्रीकृष्णलाल – निवंध-संग्रह की भूमिका, पृ० २

से प्रेमघन, बालमुकुन्द, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, मिश्रबन्धु आदि की निबन्ध कला का विकास स्पष्ट करती हैं। आज निबन्ध और समालोचना इस प्रकार परस्पर एकात्म हो गए हैं कि निबन्ध का लालित्य और निबन्धकार की कारयित्री प्रतिभा समीक्षा के गंभीर चिंतन को आत्मसात करके अपना अस्तित्व खो बैठी है, फिर भी अनेक निबन्धकार जैसे—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, वियोगी हरि, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा आदि लेखक इस परम्परा को अभी अक्षुण्ण रखे हैं। पूर्ववर्ती निबन्धकारों में डॉ० श्यामसुन्दरदास के निबन्धों की भाषण कला, आचार्य शुक्ल का आचार्यत्व, मन तत्व व गाम्भीर्य, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी का पांडित्य, सुदर्शन की उपदेशात्मकता, द्विवेदीजी का ओज, सारल्य, प्रवाहपूर्ण एवं घनीभूत भाव-सम्पदा निबन्ध-कला का पूर्णत पोषण करती रही है। पंत का कवि यद्यपि निबन्ध की व्यक्तिवादी पद्धति की दिशा में कुछ मंद रहा है, क्योंकि उनकी घनीभूत भावनाएं रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के सहारे गद्य को प्राय कवित्व की ओर मोड ले गई हैं, फिर भी उनकी निबन्ध-कृतियां महत्वपूर्ण हैं। उनके गद्यपथ तथा शिल्प और दर्शन के संकलित निबन्ध अनेक दृष्टियों से विचारणीय हैं।

आलोचना

सृजनशील साहित्य के साथ साथ साहित्यिक बोधवृत्ति बड़ी पुरातन है। इसे यथास्थल, समीक्षा, आलोचना, साहित्यशास्त्र आदि नामों से अभिहित किया जाता है। संस्कृत साहित्य में राजशेखर,[1] मम्मट,[2] कुंतक,[3] भामह,[4] दण्डी[5], वामन,[6] पंडितराज जगन्नाथ,[7] विश्वनाथ,[8] आनंदवर्धन[9] आदि काव्य-तत्ववेत्ता आचार्यों ने काव्यादर्श, काव्य के तत्व, काव्य हेतु, प्रयोजन, रीति, अंग, रचना प्रक्रिया, स्वरूप, साधन आदि स्पष्ट करते हुए कवि प्रतिभा के शाश्वत प्रतिमान स्थिर किए हैं और अपनी आलोचक प्रतिभा द्वारा काव्य की शक्ति, वृत्ति, औचित्य व दोषों का निरूपण भी किया

---

१. काव्य-मीमांसा
२ काव्य प्रकाश
३ वक्रोक्तिजीवित
४ काव्यालंकार
५ काव्यादर्श
६ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
७ रसगंगाधर
८ साहित्य दर्पण
९ ध्वन्यालोक

है।[1] पाश्चात्य समालोचकों में प्लेटो, अरस्तू[2], लोंजाइनस[3], हडसन[4], इलियट, मैथूआरनाल्ड, डॉ० जॉनसन, रिचर्ड्स[5], बैडले, फायड, न्यूमैन आदि ने काव्य-प्रक्रिया, अचेतन प्रतिमा और उदात्तीकृत चेतना का पर्याप्त विश्लेषण किया है। आलोचना का व्यवहार, प्रयोग और उसकी व्याख्या उपर्युक्त विद्वानों द्वारा नाना प्रकार से की गई है। व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से—सम+लुच् (लोचन्) +आङ्—आलोचन्+टाप्। आलोचना–संज्ञा, स्त्री (सं०) अर्थात् किसी वस्तु के गुण-दोष का विचार, गुण-दोष-निरूपण।[6] भारतीय साहित्यशास्त्र रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सिद्धान्तों में विभक्त होकर काव्य की सांगोपांग समीक्षा प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य काव्य मूलत: रचना के जीवन, उसके अभिव्यक्ति-कौशल, सत्य के स्तर और गुणों का परीक्षण करता है। साहित्य समीक्षा के ये सम्प्रदाय राजनीति और अर्थ व्यवस्था से भी यथासमय प्रेरित तथा प्रभावित होते रहे हैं जैसे मार्क्सवादी समीक्षा। सामान्यत: समीक्षा में रचना की व्याख्या तथा निर्णय की प्रवृत्ति स्वाभाविक मानी गई है। रिचर्ड्स ने जीवनानुभूतियों के विवेचन और मूल्यांकन को ही अधिक प्रश्रय दिया है। अनेक विद्वानों ने कवि और समालोचक को पृथक् माना है। राजशेखर ने स्पष्ट कहा था—"कवेर्मवति हि चित्रं किं हित अन्यन् भावक:।" समालोचक में रस-ग्रहण की क्षमता, जीवंत संवेदना और विषय में गम्भीर प्रवेश करने की शक्ति अपेक्षित है। कवि काव्यसृजन करता है, आलोचक रसास्वाद करता है। वह रचना के बाह्य अस्तित्व, उसके औपचारिक रूप-विधान, अनुभूतिजन्य प्रभाव, वैचारिक वैशिष्ट्य और अभिव्यंजनागत सौष्ठव का निर्णय करता है। इस समीक्षा को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक इन दो भेदों में प्रतिष्ठित किया गया है। अन्तर्भाष्य, समीक्षा, मूल्यांकन, रसास्वाद, विश्लेषण, अनुशीलन और काव्यशास्त्रीय मीमांसा—सब इसी के अंग हैं। इनमें न्यूनाधिक अंतर भी है। शास्त्रीय समीक्षा मुख्यतः मन, बुद्धि, रचना-प्रक्रिया, भाषा, भाव-बोध एवं शिल्प की प्रौढ़ता पर ध्यान देती है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से साहित्य में जीवन और युग-दृष्टि को प्रधानत: स्वीकार किया गया है। इसीलिए 'कला कला के लिए', या 'कला जीवन के लिए' इसके दो मतान्तर हैं। प्राचीन अल्पख्यात कृतियों के अंधानुकरण और तर्कप्राधान्य को लेकर पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त में शास्त्रीय समीक्षा का व्यवहार कुछ-

---

१. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र
२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा—सं० डॉ० सावित्री सिन्हा
३. काव्य में उदात्त तत्त्व—सं० डॉ० नगेन्द्र
४. W. H. Hudson—An Introduction to the Study of Literature, p. 267
५. I. A. Richards—Principals of Literary Criticsim, p. 2
६. हिन्दी शब्द-सागर, पृ० २६६

कुछ निषिद्ध घोषित किया गया है।[1] प्रत्येक श्रेष्ठ समालोचक आलोच्य कृति का विश्लेषण करने के लिए अपने निर्णयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर क्रमश अध्ययन, सुनिश्चित चिंतन, स्वतंत्र धारणा, संतुलित निश्चय, आतरिक सहानुभूति और सांगोपांग विवेचन द्वारा अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत करता है। आलोचक मे सात्त्विक प्रतिभा, धारणा शक्ति, गुणग्राहकता, बुद्धिमत्ता, रचना के प्रति समादर की भावना, विशद ज्ञान, निर्णायक क्षमता और निष्पक्षता अपेक्षित है। इसी आधार पर आलोचना के प्रकार भी निर्धारित किए गए हैं, जैसे १ आत्मप्रधान आलोचना जो भावपूर्ण हृदयोल्लास का प्रभाववादी रूप प्रकट करती है। २ सैद्धान्तिक या शास्त्रीय समीक्षा, जो पूर्वनिश्चित शाश्वत मतो पर चलती है। ३ व्याख्यात्मक समीक्षा जो अतरात्मा मे प्रवेश करके विचार विमर्श करती है। ४ निर्णयात्मक समालोचना जो गुण दोष का विवेचन करती है। ५ तुलनात्मक समालोचना जो संतुलन करके उभय पक्षो पर संयमित दृष्टि डालती है ६ मनो-वैज्ञानिक समीक्षा जो अन्तरतम का विश्लेषण करके मन तत्त्वो को उद्घाटित करती है। इन पद्धतियो पर प्लेटो, अरस्तू, फ्रायड, एडलर और मार्क्स जैसे विचारको का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी-आलोचना प्राच्य और पाश्चात्य दोनो प्रकार के तत्त्वो से प्रेरित होकर निरंतर गतिशील रही है। प्राचीन हिन्दी आलोचना के संकेत सिद्ध, नाथ, वैष्णव और भक्त कवियो की टीकाओ, व्याख्याओ और पद्यात्मक उक्तियो मे द्रष्टव्य हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के आधार पर हिंदी रीतिकार मे अलंकार, रस-रीति, काव्य गुण, दोष और लक्षण निरूपण आदि का प्रचलन आविर्भावकालीन हिन्दी आलोचना का स्वरूप स्थिर करने, किन्तु इन ग्रन्थो मे सर्वाङ्गीण परिपूर्णता नही आ सकी है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्राय पृथक्-पृथक् काव्य-सम्प्रदायो की मीमासा करके एकागी अथवा अनुपपन्न हो गए हैं।[2] इन समीक्षासूत्रो के आधार पर सम्प्रदाय, वाद, प्रवाद, निर्णय मीमासा, न्याय वृत्ति, टिप्पणी, वार्त्तिक, भाष्य, वार्त्ता, व्याख्यान, वचनिका आदि का विकास हुआ है। हिन्दी गद्य का आधुनिक युग समालोचना की दिशा मे सर्वाधिक समृद्ध और पूर्णत प्रौढ है। रीतिकालीन आलोचना इस दृष्टि से विशुद्ध नही है। प्रत्येक रीति कवि आलोचक नही कहा जा सकता। "हिन्दी मे लक्षण ग्रथो की परिपाटी पर रचना करनेवाले जो सैकडो कवि हुए हैं वे आचार्य कोटि मे नही आ सकते। वे वास्तव मे कवि ही थे। उनमे आचार्यत्व के गुण नही थे। उनके अप-र्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने मे असमर्थ हैं।"[3] हिंदी-समीक्षा मूलत भारतेन्दु-युग से उद्भूत मानी जाती है। भारतेन्दुकालीन समीक्षा के प्रवर्त्तन का श्रेय तत्कालीन लेखको को है अवश्य, पर वस्तुत समीक्षा के सर्वांगीण सम्बर्द्धन का श्रेय द्विवेदी-युग को ही दिया जाना चाहिए। इस युग मे प्राय जीवनवृत्तीय,

---

१ लीलाधर गुप्त—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, पृ० १६६

२ S K Day—History of Sanskrit Poetics Part II p 254

३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३४

परिचयात्मक, निर्णयात्मक, तथ्यात्मक और अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली अधिक प्रचलित रही है। आलोचकों का अधिकाधिक श्रम युग अथवा देश-काल के निर्णय और कवियों के बाह्य व्यक्तित्व के विवरण में ही व्यय होता रहा है। इन समीक्षा-कृतियों में अनुसंधान और आकलन का प्रयास न्यून है, साथ ही आलोच्य कृति की अभिव्यंजना का मूल्यांकन भी स्वल्प है। हिंदी आलोचना का पूर्ण विकास 'शुक्ल-युग' में ही दृष्टिगोचर होता है। इस युग में प्रभाववादी समीक्षा, वैज्ञानिक विश्लेषणपरक समीक्षा, निर्णयात्मक समीक्षा, तुलनात्मक समीक्षा, व्यक्तिवादी समीक्षा, समाजशास्त्रीय समीक्षा मनोवैज्ञानिक समीक्षा, व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धतियो द्वारा अपना स्वस्थ आलोचनादर्श प्रकट करती हैं। इस युग में 'कला जीवन के लिए है' इस लोकव्यापी सिद्धान्त के प्रभावानुसार उदात्त साहित्यादर्श के सिद्धान्तों का समन्वय करके हिन्दी आलोचना अपनी तीव्रानुभूतियों और अपनी अन्तर्प्रतीतियो को बल देती रही है। हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत अद्यावधि कविवर रत्नाकर, भारतेन्दु,[1] गंगाप्रसाद अग्निहोत्री,[2] महावीर प्रसाद द्विवेदी,[3] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी,[4] मिश्रबन्धु,[5] डॉ० श्यामसुंदरदास[6] पं० कृष्ण-विहारी मिश्र, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय लाला भगवानदीन, पं० केशवप्रसाद मिश्र, प० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० बडथ्वाल, आचार्य शुक्ल,[7] बाबू गुलाबराय, पं० ललिता प्रसाद शुक्ल, पं० पद्मसिंह शर्मा, आचार्य हजारी प्रस.द द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० विनय मोहन शर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० श्रीकृष्णलाल, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० देवराज, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डॉ० शिवदान सिंह चौहान, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० दशरथ ओझा, डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० रामरतन भटनागर, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पं० शातिप्रिय द्विवेदी, डॉ० उदयभानुसिंह, डॉ० नामवर सिंह आदि कितने ही समालोचक अपने प्रातिभ ज्ञान से हिन्दी समीक्षा को संवर्धित करते रहे हैं और अधिकाधिक कर रहे हैं। हिन्दी-समीक्षा की इस दीर्घ परम्परा में कविवर पंत द्वारा एक नवीन रचनात्मक प्रक्रिया (आत्मालोचना) का प्रवेश होता है। यह आत्मालोचन पद्धति हिन्दी की विशिष्ट तथा

---

१. समालोचनादर्श (अनुवाद)
२. समालोचना
३. रसज्ञ-रंजन
४. विश्व-साहित्य
५. हिन्दी नवरत्न, मिश्रबन्धुविनोद
६. साहित्यालोचन
७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिंतामणि भाग १-२, रस-मीमांसा और अन्य भूमिकाएँ

नयी आलोचना प्रणाली है, जो अनुभवजन्य और प्रभाववादी अन्तश्चेतना का सर्जनात्मक पक्ष ग्रहण करती है। इसमें मौलिक चिन्तन और उसकी साग-पाग व्यवस्था दृष्टिगत होती है। यह समीक्षा तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना का अंग बनकर काव्य के सदर्भ मे प्रकट होती है। वस्तुत पंत जी की मूल स्वच्छंद भावना मे जगत् के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण है जो केवल कविता में ही नहीं बल्कि उपन्यास, कहानी, संस्मरण, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सभी साहित्यरूपो मे अभिव्यक्त हुआ है।"[1] अस्तु पंत-जी के इन सभी गद्य रूपो के विचार विश्लेषण इसी क्रम मे प्रस्तुत हैं।

---

१ डॉ० नामवरसिंह—हिन्दी के आलोचक पृ० २७३

पंतजी की नाट्यकृति 'ज्योत्स्ना'

'ज्योत्स्ना' पंतजी की एकमात्र नाट्यकृति है। प्रतीकवादी शिल्प की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण है। कवि पंत का जीवन-दर्शन और उसका अन्तर्मन्थन इसमें नाटकीय पद्धति से प्रकट हुआ है। भौतिक जीवन का अन्तर्बाह्य संघर्ष, भावी मनोमय जीवन का नवीन विश्वास तथा आशा एवं उल्लास का भाव इसमें प्रगल्भता-पूर्वक व्यक्त हुआ है। लेखक के शब्दों में—'ज्योत्स्ना', का ज्योति, अन्धकार का युद्ध मेरे ही मन का युद्ध था।"[1] यह नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रथम प्रयत्न है। लेखक ने 'ज्योत्स्ना' के रूपक में अत्यधिक व्यापक, सामाजिक एवं अवैयक्तिक आशा-आकांक्षाओं को मानवीय धरातल पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है और इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन-साधना के प्रति विद्रोह प्रकट किया है। प्रस्तुत कृति में पंतजी ने अपने परिवेश एवं सामाजिक परिपार्श्व से असन्तुष्ट होकर एक सुसंस्कृत एवं मानवोचित सामाजिक जीवन का स्वप्न प्रस्तुत किया है।[2] पंतजी ने 'ज्योत्स्ना' में जीवन की वहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया है, जिसमें नवीन सामाजिकता और नव मानवता के प्रतिष्ठित होने का शुभ संकल्प भी इंगित है।

पंतजी के वैचारिक दर्शन के अनेक सूत्र 'ज्योत्स्ना' में उपलब्ध होते हैं। उनका दृष्टिकोण इस कृति में अत्यन्त मुखर और भास्वर है। उनके कथनानुसार—'ज्योत्स्ना' मे मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।"[3] यहाँ कवि की सौंदर्य-कल्पना आत्मकल्याण और विश्व-मंगलकी भावना से प्रणोदित होकर जीवनकी सम्यक् व्याख्या करने का समर्थ उपादान बनी है। ज्योत्स्ना के स्तर तक कवि पंत राग और सौदर्य के परिपाक में आपूड़ मग्न रहे है। कवि ने अब तक विश्व का पर्यवेक्षण भावना के सहारे किया था। उसकी बौद्धिक दृष्टि जागृत नहीं हुई थी, अतः अनेक रहस्यों का सम्यक् उद्घाटन सम्भव नहीं हो सका था। पंतजी की स्वीकारोक्ति है कि 'ज्योत्स्ना' तक मेरे सौदर्य-बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिय हृदय को प्रभावित करती रही है। मैं तब तक भावना से ही जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा। उसके वाद से

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० १११
२. पंत—परिदर्शन, रश्मिबंध, पृ० ११
३. पंत—गद्य-पथ, पृ० ५२

मैं संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ।"[1] नाटककार पंत का कवि रूप इस कृति में अधिक द्रष्टव्य है। 'ज्योत्स्ना' में एक ओर सुकुमार चित्रण, मार्वदशाम्य एवं सूक्ष्म कल्पनाएँ, और दूसरी ओर तत्त्वमीमांसा विषयक सांस्कृतिक तथा दार्शनिक समन्वय— ये दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। 'ज्योत्स्ना' का देश काल वातावरण (परिवेश) सूक्ष्म सौंदर्य की महानतम कल्पना से अनुप्राणित है। उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता का आलोक दर्शन विकीर्ण करता है। पंतजी ने 'ज्योत्स्ना' में जीवन की आन्तर तथा बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया है तथा नवीन सामाजिकता एवं नवमानवता में उनके रूपान्तरित होने की दिशा भी इंगित की है। 'ज्योत्स्ना' लेखक की कल्पना प्रधान कृति है, जिससे कृती का अपना मानसिक द्वन्द्व प्रकट हुआ है। पंतजी की आत्मस्वीकृति के अनुसार "वह मेरी तब की सौंदर्य-शिल्प की साधना का भी सम्यक् निदर्शन है। मेरे विगत वर्षों की, प्रयाग की जीवन-साधना ने ही वास्तव में वाणी पाई है।" इस कृति में पंतजी का एक विशिष्ट आदर्श और संदेश निहित है, जो उनके काव्य में सांस्कृतिक समन्वय स्थापित करता है और लोक-जीवन में विश्व मानवता की प्रतिष्ठा करता है। मानव-जीवन में समानता और सत्य की समस्या आज अत्यन्त असाध्य हो गयी है। यांत्रिक युग के विकेन्द्रीकरण के कारण जीवन की एकता चारों ओर बिखर गयी है। उसका सामूहीकरण इस युग का परम-धर्म है और यही आलोच्य कृति का प्रतिपाद्य है। लेखक ने स्वयं ही इस तथ्य का विवेचन किया है - "मानव एकता का सत्य मानव-समानता के सत्य से अधिक महत्त्व-पूर्ण है, किन्तु समानता के सत्य का अतिक्रम कर मानव एकता की स्थापना सम्भव नहीं। वैज्ञानिक युग की विकसित परिस्थितियों के अनुरूप मानवता के बहिरन्तर जीवन का समूहीकरण होना अनिवार्य है। इसकी जितनी उपेक्षा की जाएगी, सर्वव्यापी समानता की भावना उतनी ही सशक्त तथा उग्र होती जाएगी। आज की हमारी क्षुद्र अहंता अथवा पृथक् व्यक्तित्व उसी विगत संगठित चैतन्य की स्फुलिंग मात्र है, और उसी सांस्कृतिक क्षितिज के भीतर ऊब-डूब करती है। द्वितीय युद्ध के बाद पश्चिमी विवेकवादी, पुनर्जागरणवादी या ह्रासोन्मुख कुण्ठावादी साहित्य से प्रभावित आज की हमारी नवीनतम साहित्य की कुछ धाराएँ भी उसी मरणोन्मुख विगत मानव-चैतन्य की टिमटिमाती हुई क्षणदीप्त, आत्ममुग्ध क्षीण लौ है, जिन्हें व्यापक समूहीकरण के मूल्यों से मिलकर स्वयं को विकसित तथा सामूहिक उन्नयन की धारा को अधिक व्यापक, वैचित्र्यपूर्ण तथा समृद्ध बनाना है।" आज की सामूहिकता के बाह्य सचरण को व्यापक, धैर्यशील तथा वैयक्तिकता के अन्त सचरण को विनम्र तथा ग्रहणशील बनाना पड़ेगा। आज का युग अवतरण या उन्नयन का युग नहीं। वह राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि सभी दृष्टियों से निस्सन्देह वितरण

---

१ पंत—पर्यालोचन, आधुनिक कवि पृ० १५,

२ पंत—उत्तरा की भूमिका, पृ० ११

का युग है।'[1] 'ज्योत्स्ना' में नवयुग के नए जीवन-दर्शन की घोषणा की गई है। समसामयिक मानव की व्यक्तिपरक निःसंग क्रियाएँ अथवा हमारी वैयक्तिक गतिविधि इस नवयुग की नवसंस्कृति के अनुकूल नहीं है। 'आत्म' से परे समस्त की ओर संचरण इस नवयुग-धर्म का अनिवार्य लक्षण है। हमें अनेक क्षेत्रों में प्रसार और विस्तार पाने की आवश्यकता है। आत्मकेन्द्रित होकर हम जीवन के एक व्यापक भाग से असम्पृक्त और अछूते रह जाएँगे, जिससे हमारा सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं होगा। संचरण और उन्नयन की दिशा में सतर्क चेष्टा करने का सन्देश 'ज्योत्स्ना' में पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है।

रूप-रचना और शिल्प की दृष्टि से 'ज्योत्स्ना' प्रतीकवादी नाटक है, जो कवित्व के रूप-रंगों से चटकीला और रोचक बनाया गया है। सम्पूर्ण कृति अनेक अंकों व दृश्यों में विभक्त है, जिससे कथावस्तु का सन्तुलन सुरक्षित रखा जा सका है। इसके अन्तर्गत अनेक प्राकृतिक उपकरण मानवीकृत होकर मानवीय क्रिया-व्यापार करते प्रकट हुए हैं। प्रथम अंक में सन्ध्या, छाया एवं सम्राट् इन्दु पृथ्वी का भार अपनी पत्नी सम्राज्ञी 'ज्योत्स्ना' को इस आशा से सौंपना चाहते हैं कि वह भूलोक में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित कर देगी। नाटक के उद्देश्य का यही संक्षिप्त पूर्व संकेत प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण कृति में लेखक विविध सम्वादों और कथोपकथनों द्वारा इसी समस्या का वैचारिक निदर्शन प्रकट करता है। वर्तमान युग में वास्तविक सुख और शांति का सहजोपलब्ध साधन क्या है ? इसी समस्या से ग्रस्त होकर अपने नाटकीय रूपान्तर में रानी 'ज्योत्स्ना' पवन तथा सुरभि से मर्त्यलोक का यथार्थपरक परिचय प्राप्त करती है। पवन के शब्दों में लेखक ने अत्यन्त प्रभावोत्पादक पद्धति से मर्त्यलोक का चित्रोपम वर्णन प्रस्तुत किया है। उसके कथनों द्वारा सांसारिक स्थिति का यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। 'ज्योत्स्ना' पवन तथा सुरभि को क्रमशः स्वप्न एवं कल्पना का रूप देकर आज्ञा देती है कि वे काव्य-कला तथा संगीत द्वारा मानवता के उच्चादर्शों की स्थापना करके पृथ्वीवासी मनुष्यों को जड़ से चेतन की ओर एवं स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रेरित करें। आज की प्रसुप्त मानवता में सत्य, दया, त्याग, प्रेम, भक्ति आदि सद्प्रवृत्तियों को जागृत करते हुए मर्त्यलोक में प्रेम तथा भ्रातृत्व-भाव का सूत्रपात करना इस कृति का लक्ष्य है। मन की क्षुद्र तथा असत् प्रवृत्तियों के अन्धकार में लुप्त होने पर मानव-लोक को उषा की नई ज्योति से पूर्णतः प्रकाशित (चैतन्यपूर्ण) करना कवि का अभिप्रेत है। 'ज्योत्स्ना' में प्रथमतः चतुर्दिक् स्वर्गीय आनन्द व उल्लास की अवतारणा की जाती है एवं आनन्दपूर्ण गीत गाए जाते हैं। प्रस्तुत रूपक वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्त्वशाली है। कथानक में द्रुत गति नहीं है और घटना के त्वरित विकास का भी अभाव है, क्योंकि यह प्रवेग कवि को अभीष्ट नहीं है। इन्दु, ज्योत्स्ना, पवन आदि पात्र-पात्रियों की रूपरेखा बड़ी स्पष्ट है। आहार्य और अनुकार्य

---

१. पंत—उत्तरा की भूमिका, गद्यपथ पृ० ७३

द्वारा प्रायः उनका मांसल व्यक्तित्व उभरा है, फिर भी उनका रूप भौतिक न होकर वायवीय और नैसर्गिक है। नाटक में आद्यन्त मधुर गीत, रंगीन दृश्य, गूढ़ दार्शनिक विचारणा तथा अद्भुत मनोहर दृश्य विधान परिलक्षित होता है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और स्पांकन यहाँ विद्यमान है। इस स्वरूपांकन में विलक्षण कल्पना-शक्ति का भी उपयोग हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओं का यहाँ सजीव एवं मूर्त रूप चित्रित किया गया है और साथ ही अमूर्त वायवीय भावों का भी सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत हुआ है। उदाहरणार्थ—छाया का 'अलसाया गीत', पवन की 'मर्मर ध्वनि', जुगुनुओं की 'जग-मग ज्योति' यथास्थान प्रकट हुई है। पन्तजी की सुकुमार भावना, विदग्ध कल्पना, समर्थ शब्द शक्ति, भाव सम्पन्न भाषा और मार्मिक अभिव्यंजना का यथेष्ट प्रमाण यहाँ प्राप्त हो सकता है। कवि एवं नाटककार पंत का इस रूपक में अपना विशिष्ट दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अंतर्निहित प्रयोजन है। सन्ध्या के इस कथन में पंतजी के विश्वलियन आदर्श साम्राज्य अथवा उनके लोकादर्श का मन्तव्य निर्दिष्ट हुआ है—"आदर्श साम्राज्य, मनुष्य के हृदय में नवीन उच्छ्वास, उसकी पलकों में नवीन सौंदर्य, नवीन सपनों की सृष्टि करेगा। पशुवृत्तियों से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनाएगा। चारों ओर स्नेह सुख, सौन्दर्य-संगीत का सागर उमड़ पड़ेगा। एक शब्द में संसार का स्वर्ग उतर आएगा।"[1] प्रस्तुत नाटक में लेखक का वैचारिक पक्ष अत्यन्त सुदृढ़ और तत्त्वपूर्ण है। मानवीय एकता और विश्व संस्कृति के प्रति इसमें पंतजी ने विशेष निर्देश एवं सन्देश है। ज्योत्स्ना का अभिमत है—"ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी, पृथ्वी की एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्वचक्र एक ही अखण्ड सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों में संचालित है। मानव जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँध कर समस्त विभिन्नताओं को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियमित करना होगा।"[2] 'ज्योत्स्ना' का प्रतिपाद्य अपने में असंदिग्ध है और साथ ही निर्विवाद सत्य भी। वर्णना शक्ति और चित्रण शैली की दृष्टि से पन्तजी का यह प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। साधारण कथना में भी कवित्व की माधुरी तथा कल्पना का स्निग्ध सौन्दर्य दर्शनीय है, यथा—'ज्योत्स्ना' अनिंद्य सुंदरी, आलोक बिम्ब आनन, उषा स्मित कपोल, विशाल नीलनभ नयन, अनवद्य पक्ष्मल आँखें, विद्युत् रेखाओं की भृकुटि, प्रवाल-ज्वाल अधर, मुक्तावर दशन, लम्बी सौन्दर्य शिराओं-सी उंगलियाँ, आलोक रश्मि की आधी बाँह कंचुकी, कदम्ब गौर में उठे हुए उरोज, सलमे सितारे की हल्की नीहारिका-सी साड़ी।" प्रस्तुत कृति के शिल्प सौन्दर्य के संदर्भ में पन्तजी की नाट्यकला की यह

---

१ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० १५

२ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ४३-४४

एक बानगी विचारणीय है। इसके अतिरिक्त पृथक् रूप से 'ज्योत्स्ना' की विस्तृत व्याख्या भी अपेक्षित है जो यथासन्दर्भ पुनर्विचारणीय है।

'ज्योत्स्ना' प्रतीकवादी पद्धति पर आधारित कल्पना-प्रधान रूपक है। प्रायः प्राकृतिक तत्वों में मानवीय क्रियाएं समाविष्ट करके उन्हें संचरणशील बनाया गया है अस्तु प्रत्येक पात्र-पात्री का मानवीकरण करके लेखक ने विलक्षण रूपकात्मकता के सफल संयोजन का प्रमाण प्रस्तुत किया है। नाटक के समारम्भ से अन्तपर्यन्त यही स्वाभाविक (मानवोचित) व्यापार संचरित होता रहता है। आकाश-मार्ग से पृथ्वी का जो दृश्य दृष्टिगोचर होता है, उसकी विराट् कल्पना कवि अनेक व्याजोक्तियों के द्वारा प्रस्तुत करता है जैसे—१. 'पृथ्वी भूमि रेखा समुद्र के उच्छ्वसित वक्ष में मुँह छिपाए स्तन-पान करते हुए शिशु-सी लगती थी'। २. 'पास पहुँचने पर उच्च हिमकिरीट से शोभित सरिताओं के चंचल मुक्ताहारों से मण्डित शस्य-श्यामल अचला अनन्त सन्तप्त प्राणियों की पुण्यधात्री अचला के रूप में बदल गई है।' ३. 'सूर्य की किरणों के मुक्त प्रकाश में नृत्य करती वायु के नील रेशमी अंचल को फहराती हरितशस्य की चोली पहने हँसमुख चंचल बालिका-सी यह पृथ्वी सुशोभित है।" 'ज्योत्स्ना' इस पृथ्वी की मुक्तकण्ठ से सराहना करती है। वह एकात्मा, एकमन और विराट् संस्कृति से पूर्ण है। उसके मतानुसार अनियन्त्रित प्रकृति विकृति मात्र है। उसकी शुभेच्छा है—"एक बार मैं समस्त मानव-समाज को महासागर की असंख्य तरंगों की तरह एक ही भावोच्छ्वास से आन्दोलित, उद्वेलित, एक ही नृत्य-लय में उठते-गिरते और एक ही मानव-प्रेम के राग से मुखरित उल्लसित देख पाती।"[1] आलोच्य कृति में नाटकीय वस्तु-व्यापार रूपकात्मक निर्वाह के अनुसार ही विकसित हुआ है। ज्योत्स्ना के अवतरण के साथ ही राजहंस के कलरव से परिपूर्ण स्वागत-समारोह और ओस-सिंहासन का नाट्यपूर्ण मूक अभिनय आयोजित होता है। स्वच्छन्द प्रकृतिवाला पवन भी रानी ज्योत्स्ना के सौजन्य से अभिभूत हो जाता है। वह सर्वदेशीय और सदागति है, अतः सम्राज्ञी के सम्मुख सांसारिक विवरण प्रस्तुत करता है। झिल्ली की झनकार के रूप में मर्त्यलोक का कर्कश स्वर फूट रहा है। झींगुर को यहाँ पूर्ण मानवीय आकृति प्रदान की गई है। उसकी भावशून्य आँखें, तीर-सी तनी बढी मूंछे, लोचरहित यांत्रिक भाव से संचालित शरीर मानव-मन के अनुरूप है। वह अपनी मुखाकृति द्वारा एक प्रकार की अविश्वासजनित तीव्र सतर्कता एवं वाणी द्वारा पुरुष स्वर का कायिक तथा वाचिक अभिनय करता है। पवन में उत्तेजनशील भावप्रवणता है और उसकी प्रियासुरभि में अतिशय मादकता विद्यमान है। इस देशकाल एवं वातावरण में चाँदनी का स्वप्निल भाव तंद्रामग्न है, जिसमें जुगनुओं का नाट्य आयोजित हो रहा है। ज्योत्स्ना के प्रभाव से पवन और सुरभि में परस्पर प्रणयावेश उत्पन्न होता है। इस छायालोक में अपूर्व आत्मविस्मृति है। इन पात्रों की प्रत्येक चेष्टा से मादकता, मधुरता तथा अस्फुट हृदय का लावण्य

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ३६

प्रकट हो रहा है। फलत सुरभि के यौवन का मधु पवन को समर्पित होता है। वह उसकी हृदयकलिका का चंचल मधुप बनकर आकण्ठ मधुपान करता है और फिर अपनी बांहों (तरंगों) से सुरभि का आलिंगन करता है, जिससे सरस, सुखद तथा झंकारपूर्ण गीत की सृष्टि होती है। कवि पन्त की धारणानुसार यह छाया जगत् ही संसार का मनोलोक है, जिसमें अदृश्य सूक्ष्म शक्तियाँ विश्व के रंगमंच पर अभिनय करने के लिए अवतरित हुई हैं। सुरभि का हृदय देह के बंधनों से मुक्त हो सदैव के लिए इस सौंदर्य के स्वर्ग में लीन होकर तदाकार हो जाता है। वहाँ जागृति, स्वप्न, सत्य और कल्पना का आभास नहीं है। उसकी काल्पनिक अस्फुट स्मिति तथा अकूल नील नयन में अनिमेष सम्मोहन है। उसके सभी कार्य मानवीय वेश और तदनुकूल चेष्टा से युक्त हैं। 'स्वप्न' का भी ऐसा ही स्वरूप है—'निद्रालस'। पात्री यमुना में स्वभावोचित प्रवाह है—'धारा और वेग'। युवती 'रोज़' मलयज की गुलाबी साड़ी पहने, गुलाब सूंघती हुई, उन्मुक्त हास करती हुई दिखाई गई है। इन मानवीय प्रवृत्तियों की झाँकी सजाकर स्वप्न तथा कल्पना अवतरित होते हैं। कल्पना सदैव मायावी रूप में अंकित की गई है, जो निद्रा के नीरव छायालोक में प्रवेशकर मानव-जाति के मानस-तट पर छायाप्रकाश के अनेक मनोरम स्वर्गीय चित्र अंकित करती है, जैसे—"एक ही समुद्र की अगणित तरंगें अथवा एक ही प्रकाश की अनेक दीपशिखाएँ हों।"[1]

'ज्योत्स्ना' के प्रस्थान का दृश्य अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। चेतन सृष्टि बाँह फेरने से निद्रित हो जाती है। चारों ओर धुँधला प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना अन्तर्धान हो जाते हैं। नारी वेश में निद्रा प्रकट होती है। 'पीला वर्ण, कुम्हलाए अंग, मुँदी हुई पलकें, मातृत्व भाव भरे पयोधरों की अलस शिथिल कंचुकी' उसने धारण की है। छाया वर्ण की रेशमी साड़ी उसे सुशोभित कर रही है। उसकी कोमल केश राशि विस्मृति सी सघन है। गले में मुँदे नयनों की तरह कोमल मुकुलों की माला पड़ी है, साथ ही वह पोस्ते के फूलों का गुलदस्ता भी लिए है। उसकी मधुर मन्द मन्द ध्वनि में लोरी के ढंग का गीत गूँज रहा है जिससे अलस सुख की अनुभूति हो रही है। यह सारा स्नेह सम्भार अन्धकार में अदृश्य हो जाता है, पुन पूर्ववत् प्रकाश प्रकट होता है। पवन और सुरभि की पलकें नींद से बोझिल होकर झँपने लगती हैं। ज्योत्स्ना स्वयं इस घड़ी भर के मधुर मिलन के स्नेहपाश से बद्ध होकर स्थिर हो जाती है। सहसा ध्वनि विलीन हो जाती है। तमसाकृति छाया अत्यन्त कृश होकर एकान्त में वृक्ष के नीचे पड़ रहती है। उसकी दृष्टि धूमिल है। उसे रतौंधी-सी होती है। इसी समय उल्लू अन्धकार में अपना चमत्कार दिखाता हुआ उछल-कूद मचाता है जिससे छाया अपने चिड़चिड़े स्वभाव के कारण कुपित हो जाती है। उल्लू का हास-परिहासमय कथन प्रचलित पुराकथाओं की स्मृति दिलाता है जैसे—"राहू काका चंदा मामा के यहाँ धावा बोलकर उनकी अमृत की सुराही भगा लाए। वे ब्रह्मा दादा के पास फरियाद करने

---

[1] पंत—ज्योत्स्ना, पृ० २१

गए है।"[1] उलूक भूत-प्रेतों का स्मरण कराता है और पुनः किसी भारी-भरकम पदाघात तथा चीत्कार से उद्वेलित हो उठता है। तत्क्षण अनेक कुरूप एवं भयकर छायाकृतियाँ प्रकट होती हैं—"ये करालाकृतियाँ नरपशु की तामसी प्रवृत्तियों एवं सदाचार के अभाव से उत्पन्न होने वाले विविध रोग-शोक, आपदाओं एवं यन्त्रणाओं के प्रचण्ड स्वरूप हैं, जो प्राकृतिक विकास-नियमों के अनुरूप सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़ने से निष्प्रयोजन हो जाने के कारण पुनः तमोगुण में विलय होकर सुप्तावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।"[2] प्रकृति के अज्ञेय अन्धकार से स्थूल (असत्) प्रवृत्तियों का जन्म एवं विकास होता है। प्रकृति की रचनात्मक सूक्ष्म सत्प्रवृत्तियों को जीवों के भीतर व्यक्त करने के लिए तथा तुलनात्मक संघर्ष द्वारा उनका विकास एवं सरक्षण करने के लिए विश्व का निर्माण होता है।[3] अन्धकार का प्रसार होने पर असत्प्रवृत्तियों के कार्य आरम्भ होते हैं। उनकी वीभत्स क्रियाएँ घोर जुगुप्सा की सृष्टि करती हैं। अस्थि ककाल और खोपड़ियो के पात्रो में वे अमृत-पान करती है, हड्डियों को कटकटाकर ताल देती है और अनेक कर्कश कर्णकटु शब्द उत्पन्न करते हुए नृत्य और गायन कर रही है।[4] इस कलुषित क्रिया-व्यापार से वह अमृत भी मदिरा-तुल्य हो जाता है। प्रलय के स्वर में वे अपना गीत छेड़ते हैं और तदनन्तर प्रमत्त होकर उसी अन्धकार-सागर में विलीन हो जाते हैं। उस निर्जन प्रदेश में पुनः नीरव-निस्तब्धता छा जाती है। मन्द-शीतल समीर संचरित होने लगता है, जिसके स्पर्श से वन-पत्रों से मधुर अस्फुट ध्वनि प्रकट होती है। तदुपरांत परस्पर मनोरंजक वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता है और दूर दिगन्त से पीत कांति की क्षीण आभा दिखाई देती है। दृश्यान्तरण के साथ मलिन वेश में मधुर भावान्वेषित विरहिणी युवती कोकी प्रवेश करती है। वह धारीदार धोती धारण किये है। वातावरण भावानुकूल है। चतुर्दिक पत्रों के कम्पित अधरों पर चाँदनी का चाँदी का समुद्र लहराने लगता है। चन्द्रिका के प्रभाव से पुनरुज्जीवित होकर छाया रूपहली घुँघराली अलकें छिटकाए, हल्की रेशमी धूपछाँह प्रकट कर रही है। वह चंचल ओस के मोतियों से अलंकृत है।[5] उसने षोडसी अप्सरा का-सा रूप धारण किया है। छाया अपने प्रेम-रहस्यों से विस्मित एवं स्वप्नों से विह्वल होकर कहती है—"अपने जीवन के इस रहस्य को मैं स्वयं नहीं समझ पाती।"[6] वह कोक पर हृदय से मुग्ध है। कोक छाया को कोकी समझ कर प्रणयानुभूति व्यक्त करता है। उसकी मनोदशा अत्यन्त विकल है। नदी के किनारे चाँदी में खो जाने की कोई पुरानी घटना उसे याद आती

---

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ९५
२. " " " ९६
३. " " " ९८
४. " " " ९८
५. " " " १०१
६. " " " १०१

है। छाया कोक को उलाहना देती है—'मुझे अकेली छोडकर किसके मुखचन्द्र का अमृत-पान करने गए थे।'[1] यह उक्ति बडी व्यजक है। कोक एकपत्नी व्रत है और उसका प्रेमादश अपने मे सुदृढ है। शनै शनै प्रभात का कार्यारम्भ (अरुणोदय) होना है, परिणामत छाया क्षीणकाय हो जाती है। इसी समय वायु सचरित होती है जिससे कोक स्वन विस्मित हो जाता है। छाया प्रभात की लम्बी अँगडाई लेती है[2] और वह उपवन मे दिन व्यतीत करने चली जाती है। सहसा द्वाभा का मधुर पीलापन प्रकट हो जाता है। वन-विटपो की हिलती हुई यह हरीतिमा बडी चित्ताकर्षक प्रतीत होती है। लावा नामक पक्षी का तत्क्षण प्रवेश और भी मानवोचित ज्ञात होता है। वह सुन-हरी डाली मे कमल की छोटी कली लिए हुए है जिसकी पखुडियाँ खुल रही हैं। द्वाभा रक्तोत्पल वर्ण की है। प्रकृति के प्रागण मे कलरव के स्वर मे प्रभात का गीत समवेत स्वर मे गाया जाता है। पवन जो फूलो की मादक गन्ध पीकर रात-भर स्वप्न देखता रहा है पौ फूटने पर आँखें खोलता है। उसके स्फुरण मे गाने की ध्वनि गूज उठती है। लावा प्रकाश का सदेशवाहक है प्रस्तुत रूपक के पचम दृश्य मे उदयाचल का स्वरूपाकन किया गया है। चारो ओर पलाश का प्रफुल्ल वन है। सहसा उषा का रक्तोत्पल-सा सुन्दर मुख प्रकाशित हो उठता है। तितलियो का प्रवेश होने लगता है। वे फूलो को चूमकर परस्पर अपना हृप व्यजित करती हैं। वातावरण मे नया उल्लास छा जाता है। प्रभात किरणो के साथ 'उषा' और 'अरुण' का आगमन होता है। सूर्य के स्वागत हेतु किरणें विहगो के बाहुपाश मे बँधकर गाती हैं। फूलो के शिशु उषा के चारो ओर फैल जाते हैं। सप्तरगी पुष्प सिरिस इन्द्रधनुष को पकड लाता है। कुतूहल-वश कुन्द (श्वेत दन्त पक्ति का उपमान) अपने दाँत दिखला रहा है। प्रकृति के अन्य सौंदर्योपकरण रूढ अर्थों मे यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—चम्पा की उगलियाँ, नरगिस की आँखें, जिसके सावले मुख पर छोटा सा तिल पडा है—अपने रूप-सौन्दर्य से विमोहित कर रहे हैं। इस प्रकार रूपक के सारे पात्र और उनकी समस्त चेष्टाएँ किसी विशिष्ट भाव अथवा क्रिया की प्रतीक बनकर प्रकट हुई हैं। मानवीय क्रिया व्यापारों के सन्दर्भ मे उनका पूर्ण मानवीकरण घटित किया गया है और इसके आधार पर रूपकात्मकता का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

ज्योत्स्ना' मे सफल (रूपात्मक) प्रतीक-विधान है। प्रारम्भ से ही दूरवर्ती दिगन्त का आभास प्राप्त होता है। इसमे पूर्वाभिनय के पर्याप्त सकेत उपलब्ध हो जाते हैं। सुनहरे प्रकाश के फैलते ही निष्कम्प दीप शिखा'-सी सन्ध्या उतरती है, जो साफ के उरोजों को बारीक सुनहली कचुकी मे कसे है। उसका स्निग्ध शरद आनन और उसके रुपहले सुनहरे बाल अनिद्य सौन्दर्य के हेतु हैं। वहीं वृक्षो के झुरमुट से लम्बी-दुबली छाया की आकृतिवाली कोई स्त्री (छाया) ताली देकर हँसती है और

---

१ पत—ज्योत्स्ना पृ० १०२
२ " " " १०४

कलियों की माला गूँथकर प्रवेश करती है। सन्ध्या उसकी अग्रजा है। उसके वेश में वसन्त के नए कोपलों की प्रतिच्छाया पड़ रही है। चारों ओर हरी-भरी प्रकृति है जिससे प्रायः मर्मर ध्वनि निकल पड़ती है। नीचे भी हरित मृदु फर्श पर पल्लवों का मर्मर छिड़ा हुआ है। नए वसन्त का उल्लास सारे वातावरण में परिव्याप्त है। छाया अपनी अस्थिर गति का संकेत देती हुई कहती है—"जैसी हवा चलती है, अपने को वैसी ही पाती है।"[१] सन्ध्या के प्रति उसकी उक्ति है—"इस कर्म और आकांक्षा-मय विश्व के अस्ताचल पर आपका आसन पहले से ही अटल है।"[२] यहाँ गुणों के आधार पर कार्यों का निर्णय कर लिया गया है। छाया सन्ध्या का स्वरूप-लक्षण प्रकट करती हुई कहती है—"आपकी छत्र-छाया तो अपनी ही नीरव शांति के लिए प्रसिद्ध है, उसमें यह लोलुप आँखों की उत्सुकता कहाँ से आ गई है।"[३] इसी प्रकार एक अन्य रूपक की योजना द्रष्टव्य है। वसन्त की पूर्णिमा है। रजनी का पुत्र इन्दु जिसे प्यार से 'चन्दो' कहा जाता है, जिसे रजनी ने प्रगाढ़ प्रेम और दुलार से आसमान पर चढ़ा दिया है और जो स्वभावतः विलासी बन गया है, परिणामस्वरूप उसका जीवन कलंकी बन गया है। सन्ध्या के शब्दों में—"इन्दु का सौन्दर्य-बोध और कला-प्रेम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध है।"[४] उसे एतदर्थ 'कलाधर' और 'कलानाथ' की उपाधि प्राप्त हुई है। उसके स्वरूप में विचित्र सम्मोहन है। वह सौन्दर्य-प्रवृत्ति का प्रतीक है, जो समुद्र में उच्चाकाँक्षाओं की तरंगें उठाता है। ज्योत्स्ना-लोक में सभी प्राणी सुखमय जीवन-यापन करते है, जैसे—उपवन मे आम की डाली पर कोयल सोता है, नीलकंठ पीपल पर, खंजन बाँसों के झुरमुट में और सुग्गा पिंजड़े के अन्दर। इस प्रकार सभी पक्षी अपनी प्रख्यात क्रिया, रुचि और स्वभाव के आधार पर यथास्थान विश्राम करते हैं। प्रेम का प्रतीक चकोर प्रेम के अंगारे चुगता है। उसका दृढ़ विचार है कि—*"जीवन के रूपहले पलों को निद्रा की विस्मृति मे खोना मूर्खता नहीं तो क्या है?"*[५] वह एकान्त सरित पुलिन पर पूनों की अपार चाँदनी में अनिमेष दृष्टि से अपनी प्रेयसी के मुखचन्द्र की शोभा का पान कर रहा है।[६] टिटिहरी आसमान को हवा में दबाकर रोकती है। दूसरी ओर सन्ध्या पटावरोध कर रही है। सहसा सारा दृश्य अन्धकार में ओझल हो जाता है। प्रस्तुत वर्णन के अभ्यन्तर में सुविख्यात कवि प्रौढ़ोक्तियाँ अथवा *लोक-प्रचलित विश्वास छिपे हुए हैं। उन्हें नाटकीय प्रणाली में रखकर मानवीय गुणों* का आरोप करते हुए विराट् रूपक का संयोजन किया गया है।

---

१. पंत— ज्योत्स्ना, पृ० ५
२. " " " ५
३. " " " ५
४. " " " ६
५. " " " १४
६. " " " १४

उषा के अवतरण का भी ऐसा ही दिव्य विधान है। उसके उदय के साथ ही किरणों की डोरियों में गुथी आम की लडियाँ हिल उठती हैं। वातावरण में बिजली से आलोकित "बादलों के पतले पतले परदे"[1] पडे हुए हैं। नीचे घन मरकत नीहारिका का फर्श बिछा है, जो चचल पद क्षेपों से स्पन्दित हो रहा है। अगों के पत्र पुष्प अपने ही प्रतिबिम्बों में प्रफुल्लित हो उठते हैं। जल के स्तर पर तरगित अप्सरा की आकृति नृत्य भाव से प्रकट होती है, जो अधवृत्त तल्प पर मन्द गति और लय से आन्दोलित हो रही है। ऊपर श्यामल धवल बादलों की झिलमिल तहें जमी हुई हैं। पार्श्व में विद्युत की रुपहली सुनहरी रेखाएँ जरी की झालर की भाँति लटक रही हैं। वृत्ताकार तल्प पर पुष्पों का उपधान सँवारा गया है। उस पर मन्दार-मल्लिका और पारिजात के ढेर लगे हैं। हाथी दाँत की मेज पर सुधापूर्ण स्फटिक की पारदर्शी सुराही और शख की प्याली रखी हुई है। चतुर्दिक सौरभ विकीर्ण हो रहा है। इसी मध्यान्तर में मुख्यद्वार से चित्रा, रोहिणी, विशाखा तथा अन्य ताराएँ अगों में 'दुग्ध फेन सी बादलों की जाली' सजाए अपनी रुपहली अलकों में बूद के पुष्प सगुम्फित किए विचित्र अगभगी में नृत्य एव गीत प्रस्तुत करती हुई प्रकट होती हैं। हिरन की अस्पष्ट पदचाप से फर्श कुछ हिल्लोलित होता है, जिसके प्रति रोहिणी कहती है—"हिरनौटी को रजनी की काजल-कोठरी में बन्द कर दे।" इस कथन की गूढार्थ व्यजना बडी साभिप्राय है। स्वर्गगा का जल गगा में विहार कर रहा है। पुष्पों के प्रति यह साकेतिक सूचना मिलती है कि—'वह नीहार के आँगन के चिकने फलक पर फिसल गई है।'[2] रोहिणी इसकी कुछ और ही व्याख्या करती हुई कहती है कि—"तन्वगी ताराएँ नृत्य के उल्लास में फिसल पडती हैं। मर्त्यलोक वाले इसे तारे का टूटना कहते हैं।"[3] इन्दु तथा ज्योत्स्ना के प्रवेश करने पर ताराओं द्वारा मोतियों की बौछार होती है और तीव्र आलोक प्रस्फुटित हो जाता है। इन्दु का स्मित-दीप्त आनन आभा चक्र की रचना कर रहा है। उसकी रुपहली अलकों में चन्द्रमणि का तरल आलोक छाया हुआ है। आज उसने अपने वदन से चिपका हुआ रुपहली रश्मियों का चुस्त अँगरखा धारण किया है। वह अपनी बाई बाँह में आलोक रश्मियों के कगूरे पहने है, जिसमें 'गलित मोतियों की लडियाँ' झूल रही हैं। उसके पाँवों में चाँदी के तार का पुष्प स्लीपरनुमा जूता और गले में फूलों का धनुष सुशोभित है, जिसमें पुष्प बाण रखा हुआ है। एक ओर वह शिशु शावक को चिपटाए है और दूसरी ओर उसकी बाई बाँह ज्योत्स्ना के कटि-प्रदेश में लिपटी हुई है। सुन्दरी ज्योत्स्ना का यह सौन्दर्य-विधान अत्यन्त रूपकात्मक पद्धति से वर्णित हुआ है—'उसका आलोक-बिम्ब आनन, उषा स्मित कपोल, विशाल नील-नभ नयन, अनन्त-पक्ष्मिल पलकें, विद्युत रेखाओं सी भृकुटि, प्रवाल ज्वाल

---

१ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० १७
२ „ „ „ १८
३ „ „ „ १८

अधर, मुक्तातप दशन, सौन्दर्य-शिखाओं-सी उँगलियाँ, आलोक रोओं की आधी बाँह कचुकी, कदम्ब पुष्प या कन्दुक-से उठे उरोज, सलमे-सितारे की हल्की नीहारिका की साड़ी, पृष्ठदेश से लहराती हुई रेशमी चाँदनी, बादलों से छनते हुए आलोक-प्रसार की तरह झूलकर फर्श को चूम रही है, जिसके दोनों ओर लटकती हुई ओस की लड़ियों के छोर ताराएँ पकड़े हैं। गोरी कलाइयों में किरणों में गुम्फित दो स्फार मुक्ताफल, गले में तारा बिन्दुओं की एकावली, जिसमें तरल के स्थान में इन्दु का छोटा-सा चित्र रखा है। इन्दु के बाँए कन्धे पर छाया अपना कपोल रखे हुए है एवं दाँई बाँह उसकी बाँई बाँह में डाले हुए है।"[1] छोटी तारिकाएँ इन्दु के आने पर अदृश्य हो जाती हैं। इन्दु और ज्योत्स्ना में परस्पर सांसारिक विषयों पर स्फुट चर्चा होती है। ज्योत्स्ना इन्दु को विश्व की कुरूप वास्तविकता का विस्तृत परिचय देती है। इसी विचारक्रम में सम्राज्ञी ज्योत्स्ना छायापथ से मानवलोक की यात्रा करने का प्रस्ताव करती है। दोनों भूलोक की ओर प्रस्थान करते हैं। उनके विमानासीन हो जाने पर तरल गीत-लय से संचालित बादलो के टुकड़े पंख फैलाकर मँड़राते हैं। ऊर्ध्वस्तर पर चन्द्राकार इन्द्रधनुषी आभा के सतरगी मण्डल दिखाई पड़ते हैं। इस अवसर पर ज्योत्स्ना का भाव विह्वल कथन है कि "आप ही की छवि तो मेरे हृदय स्पन्दन में झूलती है।" उसका आग्रह है कि "मर्त्यलोक में आकर दर्शन दीजिएगा।"[2] इन्दु मनोगति से आने का आश्वासन देता है। वह शख के प्याले में अमृत उँड़ेलता है और ज्योत्स्ना के होंठों तक ले जाकर उत्सुक दृष्टि से उसका मुख देखता है। ज्योत्स्ना अपनी "प्रलम्ब पलकें प्याले की ओर झुकाकर हँसती है और होंठ फेर लेती है।"[3] यहाँ रूपक का आरोप कुछ असिद्ध-सा ज्ञात होता है। इन्दु की गूढोक्ति है कि —"तुम्हारे अधरामृत को यह देवलोक का अमृत नही पा सकता। जब मैं सुधा-पात्र को तुम्हारे लाल-लाल होंठो के पास ले जाता हूँ; उसकी बूँद-बूँद में सुरा का रँग आ जाता है; जैसे ओस के सरोवर में उषा उदय हुई हो।"[4] इन्दु का एकमात्र कार्य है सुधापान। उसकी रसिकता से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाएँ बड़ी व्यंजक हैं। उसे ज्योत्स्ना की चचल चितवन में मछलियो की क्रीड़ा का भ्रम होता है। ज्योत्स्ना के चंचल कटाक्षों के सामने वस्तुत: काम का कुसुम-बाण व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। ज्योत्स्ना का प्रमाण सूक्ष्म तथा मनोमय है। मनुष्य-लोक का कार्य तो अंगों की इच्छा के आभाव में नही हो सकता। ज्योत्स्ना मानवलोक को प्रणय का पावन सन्देश देती है। उसका निश्चय है कि आज वह शयन-गृह में रूठे दम्पतियो को बकुल, हरसिंगार और रजनीगंधा की सुगन्ध का सन्देश सुनाकर मिलने को उत्सुक करेगी। ज्योत्स्ना के इस प्रणय से प्रभावित इन्दु उसका प्रगाढ़ आलिंगन करता है और

---

१. पंत—ज्योत्स्ना पृ०, २०
२. „ „ „ २३
३. „ „ „ २३
४. „ „ पृ० २३

तभी भावाभिनय के साथ नृत्य आरम्भ होता है। ज्योत्स्ना की सत्मरपूर्ण घोषणा है कि—"मैं सुंदर भावनाओं की सृष्टि करूँगी। इससे मानसी प्रतिमाओं में सौन्दर्यदर्शी और प्रेम स्थापित होगा। मनुष्य को अपनी ही आत्मा के प्रकाश में अपना महत्त्व समझकर उसे अपनी उन्नति का विकास करना है।"[1] अन्त में इन्दु दूज की कला के यान पर बैठाकर रानी ज्योत्स्ना को विदा करता है। इस समय चारों ओर घास की लड़िया झूम रही हैं। सप्तरंगों से आभूषित किरणें यान को कंधे पर रखकर विरल-जलद पथ खोलकर चलने का उपक्रम करती हैं। भूलोक के मानसरोवर पर यान धराशायी (अवतरित) होता है। किरणें संगीत की मधुर झंकार की तरह छायापथ से पृथ्वी के निद्रित कण-कुहरों में प्रविष्ट होती है। श्यामवर्णी रजनी अपने अमित परि-धान में—'सघननील कुन्तलों में युक्त जुगुनुओं की पंक्तियों से जगमग, साथ ही उलूक लिए आशीर्वचन के लिए जाती है। उसकी यह गूढ उक्ति विचारणीय है—"तुम दूध की नहाई हो।" मर्त्यलोक का कष्ट अनुभूत न हो, अत वह अनुचर उलूक को उसके साथ कर देती है। सहसा किरणें पंख फैलाकर बिखर जाती हैं। यहीं दृश्य-परिवर्तन होता है। अगला दृश्य है—रात्रि का द्वितीय प्रहर। अन्तरिक्ष के नीरव कूलों में चाँदनी का अपार फेनिल सागर उमड रहा है। चारों ओर सीप के पंखों के उड़ते हुए व्योम-चारी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। वायु के प्रश्वासों से अनेक वनौषधियाँ फासफारस की तरह सुलगकर रंग-बिरंगे आलोक विकीर्ण करती है। हिम की श्वेत शिला में प्रति-बिम्बित होकर चाँदनी अनेक वर्णों की रत्नच्छाया प्रकट कर रही है, जैसे—व दनवार सुशोभित हो। अर्द्धरात्रि की प्रकृति का यह परिधान अत्यन्त अलंकृत है। "निशोर नेयम आसा की पाँति रूपहली विशद नाव पर झूल रही है। पत्र पुष्पों की सुरभि ने फूलों की चटकीली पखुड़ियों से, नयी लालसा से लाल पल्लवों की चोली धारण की है और मदिर गंध निगत करती हुई अपनी केसरी अलका में रजनीगंधा की माला बाँध रही है। पवन सुरभि का सौन्दर्य पान कर रहा है। राजहंस लम्बी-लम्बी ग्रीवाएँ पीठ पर रखे सो रहे हैं।"[2] साथ ही कौतूहलपूर्ण ओस का नाट्य चल रहा है। तत्क्षण सम्राज्ञी के आगमन का सूचक मंगल संगीत प्रारम्भ होता है। मधुर स्वरों की पुष्पवृष्टि होने लगती है। ओस, मोती और पवन इस यान का निरीक्षण करते हैं। वस्तुत 'ज्योत्स्ना' का रूपक विदग्ध कल्पना के सहारे बड़े विराट् और दिव्य रूप में निर्मित हुआ है। पात्रों का स्वरूपांकन, उनकी चेष्टाएँ अथवा उनकी समस्त गतिविधियों का सांगोपांग चित्रण स्वाभाविक मानवीय क्रियाओं के आधार पर हुआ है। कतिपय स्थलों पर संश्लिष्ट रूपक का आरोप अघटित और असिद्ध भी हो जाता है। जैसे—इन्दु के परिधान अथवा उसकी रूप सज्जा के क्रम में उसे कुसुमायुध (काम) का स्वरूप दे देना अविकसित ज्ञात होता है। इन्दु किरणों के बाण धारण कर सकता है, किन्तु पुष्पबाण

---

१ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० २७
२ " " " ३२

तो केवल कामदेव का ही विशिष्ट आयुध है। अवश्य ही इन्दु में कामोत्तेजन शक्ति है, पर उसका अस्तित्व काम से पृथक् है; अतएव उसकी पृथक् रचना भी आवश्यक हो जाती है। इसी प्रकार इन्दु को चाँदी के तारों का स्लीपर पहनाना, पुष्पों को टसर के रेशमी वस्त्र धारण कराना और रोज को गुलाबी साड़ी में चित्रित करना आधुनिकता की दृष्टि से भले ही उपादेय हो, पर देशकाल एवं इस वायवीय स्थिति के निर्वाह की दृष्टि से संगत नहीं कहा जा सकता। छाया का कोक के प्रति प्रणय-निवेदन अधिक संगत नही प्रतीत होता है, क्योंकि उनमें परस्पर अन्योन्याश्रि सम्बन्ध सिद्ध (रूढ़) नही है। लेखक ने इसी प्रकार यान की स्वरूप सज्जा में 'गलित मोती की लड़ियों' का उपयोग[1] किया है, जिसका उल्लेख सार्थक नही है। मोती के दाने पिरो देने से जो सौन्दर्य प्रदान करते हैं, वह गला देने से प्राप्त नही हो सकता। ये कतिपय साधारण त्रुटियाँ नगण्य ही है। ज्योत्स्ना का रूपक अपने में पूर्ण है। नाटक के अनेक पात्र, उनके अनेक क्रिया-व्यापार और उनकी गतिविधि बड़ी स्वाभाविक है। प्रस्तुत रूपक में अनेक प्रकार के कथोपकथन है, जिनसे इसका केन्द्र बिखर जाता है। इन सारे सूत्रों को एक बिन्दु पर संगठित कर सकना निश्चय ही दुष्कर है। लेखक ने इनके केन्द्रीकरण अथवा समूहीकरण की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया है। निष्कर्षतः यह प्रमाणित होता है कि यत्र-तत्र सामान्य शिथिलताओं के अतिरिक्त ज्योत्स्ना का रूपक अत्यन्त सुनियोजित सुव्यवस्थित एवं सुरुचि सम्पन्न है।

छायावादी काव्य में मानवीकरण की प्रवृत्ति बहुप्रचलित रही है। उसी का व्यापक प्रभाव उनके गद्य पर भी परिलक्षित होता है। प्रसादजी के 'कामना' रूपक का प्रत्येक भाव-पात्र मानवोचित व्यवहार करता है और तदनुकूल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। 'ज्योत्स्ना' के पात्र-पात्रियों की रूप-सज्जा भी मानवीय क्रियाओं एवं गुणों पर आधारित है। उसका समस्त परिवेश मानवीय है। पात्रों की इन चेष्टाओं, उक्तियों और गतिविधियों से मानवीय पद्धति पूर्णतः संसिद्ध होती है। किरणें सूर्य के प्रकाश में नृत्य करती है और सप्तरंगों में सजी हुई दूज की कला के यान पर ज्योत्स्ना को आसीन कराकर भूलोक में उतरती है। पृथ्वी हरित शस्य की चोली पहने वायु के हरित दुकूल को फहरा रही है। ओस-बिन्दु प्रायः भावाभिनय करते है। विहग-दल स्वागतार्थ कलरव का गान प्रस्तुत करते है। झींगुर मनुष्याकृति धारण करके यांत्रिक भाव से संचालित होकर अपनी अविश्वासजनित तीव्र सतर्कता का परिचय पुरुष-स्वर द्वारा प्रकट करता है। पवन स्वभावतः उत्तेजनशील है। सुरभि में मदहोश भावप्रवणता है। दोनों परस्पर प्रेमानुरक्त हैं। उनमें प्रगाढ़ आलिंगन, मधुपान आदि सरस क्रियाएँ होती रहती हैं। यमुना में अपरिमित प्रवाह है। रोज मलयज की गुलाबी साड़ी पहने गुलाब सूँघती हुई उन्मुक्त हास करती दिखाई देती है। निद्रा का नारी-वेश अत्यन्त स्वाभाविक है जैसे—पीत वर्ण, म्लान मुख, मातृत्व भाव से विमोहित, असित परिधान, विस्मृति-

---

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० १४

सा सघन केश पुंज, लोगों का गायन आदि उसकी सहज मानवीय क्रियाएँ बड़ी युक्ति-युक्त हैं। छाया एकांत में वृक्ष के नीचे टिकी रहती है, दिन उपवन में बिताती है, उस का सहचर एकमात्र उल्लू है। वह प्रायः विक्षिप्त हो जाती है, जिससे लेखक ने उसके चिड़चिड़े स्वभाव का अनुमान लगाया है। रात्रि में वह अदृश्य रहती है जिसे 'रतौंधी' का लक्षण माना गया है। इसी प्रकार अनेक कुरूप तथा भयावह छायाकृतियाँ असत् प्रवृत्तियों का रूप धारण करके आती हैं और वीभत्स काण्ड करती हैं। श्वेतवर्णा विरहिणी कोकी धारीदार धोती पहने है। कौवा आदर्श पत्नी भक्त होकर प्रेयसी के 'मुखचंद्र' का एकनिष्ठ भाव से पान करता है। छाया 'प्रभात की लम्बी अँगड़ाई लेती है।'[1] प्रकाश का संदेशवाहक लावा अध मुकुलित कमल की पखुड़ियाँ लिए आता है। उन्निद्र पवन फूलों की मादक गंध पीकर लड़खड़ा रहा है। वह रात-भर स्वप्निल माया में मनोमुग्ध रहकर अब सचेतन सृष्टि में उतरता है। उसकी प्रत्येक गति में गीत है। किरण विहगों के बाहु पाश में बँधकर गाती है। फूलों के शिशु उषा के चारों ओर छा जाते हैं। शिरीष, कुंद, चम्पा, नरगिस आदि अपनी आंगिक चेष्टाएँ प्रदर्शित करती हैं, जो कवि प्रौढ़ोक्तियों के रूप में विख्यात तथा बहुप्रचलित हैं।

इन्दु का चरित्र-निरूपण उसके स्वभावानुकूल किया गया है। वह प्रकृत्या रसिक है। ज्योत्स्ना का शुभ्र स्वर्गिक निरभ्र परिवेश भी प्रभावकारी है। वह वैभव पूर्ण प्रसाधन, अतीन्द्रिय भाव सचरण, अति सूक्ष्म वायवीय रूप सज्जा और विराट कल्पना को प्रश्रय देती है। लेखक के वर्णनानुसार—'दुग्ध फेन सी बादलों की जाली उसने धारण की है। कुन्तलों में कुंद के पुष्प पारिजात का शिरोधान, नीहारिका की साड़ी आदि वस्त्रालंकार मानव रुचि के अनुकूल हैं। इन्दु ने रुपहली रश्मियों का चुन्नट अँगरखा पहन रखा है। एक पार्श्व में शिशु तारक विपकाए—दूसरी ओर ज्योत्स्ना के प्रगाढ़ालिंगन में युक्त उसकी मानवीय मुद्रा बड़ी सजीव है। उनका पारस्परिक सुधापान करना और सौंदर्य निरीक्षण करना एक सचेतन क्रिया है। ज्योत्स्ना का 'दूध की नहाई' कहा गया है। कासों की झलमलाती पंक्ति चटकीले टसर के वस्त्र पहने अंबरक के पत्रों में हँस मिलकर झूम रही है। सुरभि पुष्पों की चटकीली पत्तियों से वाभिल, लालिमा से अनुरक्त, पल्लवों की मर्मरिम वाली धारण किए मदिर गंध निगल कर रही है। अपनी अलकों में उसने रजनीगंधा की माला पिरोई है। प्रस्तुत उद्धरणों में ये भाव-पात्र किसी विशिष्ट प्रयोजन के उपमान हैं। इन्हें रूपक के सहारे गतिशील किया गया है। हंस ग्रीवा का उपमान है अब वह स्वयं लम्बी ग्रीवा रखे सो रहा है। यहाँ चाँदनी रात के समस्त प्राकृतिक उपकरणों का मानवीकरण किया गया है। इसी प्रकार संध्या, छाया, सुरभि आदि पात्रियाँ मानो आकृति प्रकृति द्वारा सहज मानवीय चेष्टाओं को अन्तर्घटित करके तदनुरूप आचरण करती दिखाई गई हैं। यह प्रतीक विधान अथवा यह चित्रण-सौंदर्य ही ज्योत्स्ना के रूपक की सबसे बड़ी सफलता है और यह मानवीकरण की

---

१ पंत: ज्योत्स्ना, पृ० १०४

प्रणाली द्वारा ही सम्मूर्त्त हो सका है।

प्रस्तुत रूपक रस, अलंकार और कल्पना-वैदग्ध्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'ज्योत्स्ना' के अधिकाश स्थल कवि के हृदय के गहन स्तरों को छूकर निस्मृत हुए हैं। इन गद्य-खण्डों में कवित्व का प्रवाह अत्यन्त तीव्र और तरल है। प्राय: ज्योत्स्ना के कथोपकथनों में संवाद-कला और शब्द-लालित्य के साथ कवित्वपूर्ण वाणी की विदग्धता विचारणीय है। आलोच्य कृति में आद्योपांत रसात्मक पुट विद्यमान है जिससे वर्णनों में सजीवता और उक्तियों में विलक्षण प्रेषणीयता आ गई है। उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर इसका स्पष्टीकरण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ देखिए—स्वप्न लीला से परिस्थिति का वर्णन किस कवित्वपूर्ण प्रणाली से कर रहा है—"तन्द्रालोक का मृदुल शिथिल घन: अलसवायु चारों ओर व्याप्त है जैसे स्वर्ग का सौन्दर्य अपने ही उल्लास की अतिशयता से अनेक आलोक निझरों से फूट-फूट पड़ा हो। अनेक वाद्यों की मधु-मिश्रित झंकारों से समस्त वायुमण्डल संगीत के श्वास-प्रश्वासों से मधुमय ही गूंज उठता है।"[1] स्वर्गलोक की देवबालाओं का यह कवित्वपूर्ण स्वरूपांकन भी द्रष्टव्य है—"कोई किसलयों की लालिमा एवं पुष्पों के पराग से परिवृत, कोई इन्द्रधनुषी छाया-भास से मण्डित, कोई साँझ के विरल जलदों, रंगीन वाष्पों, अभ्रक के पत्रों एवं झिलमिलाती रश्मियों से वेष्टित है।"[2] पंतजी ने काव्य को इस कृति में सप्राण और संमूर्त्त कर दिया है। मुकुल के प्रति कुमार का भावुकतामय निवेदन इसी आशय की पुष्टि करता है—"तुम जीती जागती कविता हो। जीवन का समस्त माधुर्य एवं प्रेम तुम्हारे लावण्य में सजीव हो उठा है। तुम्हारे मधुर स्वर में सृजन-सगीत झंकृत हो उठता है। तुम्हारी इन नील अकूल आँखों के सौन्दर्य पर काल पलक की तरह अनिमेष एवं मुग्ध होकर अपनी गति भूल जाता है। तुम्हारे प्रेम-पाश में बँधकर मरण भी जीवित हो उठेगा। वह कंकालों का प्रेमी न रहकर तुम्हारे इस रूप-रंग का प्रेमी बन जाएगा।"[3] कवि, कलाकार अथवा चित्रकार लालित्यपूर्ण विधि से चरम-सत्य के दर्शन कराते हैं, जिससे अनेकता में जीवन की एकता का अभास होता है। कवि के शब्दों में—"मुट्ठी-भर धूल में कला समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करा देती है। अनेकता के असमंजस में खोए हुए हृदय को एकत्रित कर कला उसे मनुष्य की आत्मा में केन्द्रित कर देती है। जीवन के विराट् वैचित्र्य के ताने-बाने सुलझाकर उसे सरल-सुगम बनाकर एक ही सूत्र में उसे मनुष्य के हाथ में दे देती है। वस्तुत: सत्य का यह एकत्व काव्य का लोकोत्तरानंद है।"[4] यह काव्यानंद ज्योत्स्ना में सहजोपलब्ध है। प्रतीक-विधान के सहारे कवि ने भाव-पात्रों का मधुवेष्ठित स्वरूपांकन किया है। यद्यपि कवि पंत का जीवन-दर्शन यहाँ गूढ़ वैचारिकता

---

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ५४
२. ,, ,, ,, ५४
३. ,, ,, ,, ८२
४. ,, ,, ,, ८३

से युक्त होकर प्रकट हुआ है तथापि उनके कवि-हृदय की अभिव्यक्ति दार्शनिक सत्य के साथ ही कवित्व को भी आत्मसात् किए है। दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन प्रज्ञा द्वारा करता है कवि उसी सत्य को हृदय में खींचकर सजीव कर देता है। पंतजी की धारणानुसार —"सच्चा कवि वह है जो अपने सृजन प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है। अपने को जीवन का सत्य और सौन्दर्य की प्रतिमा बना लेता है। कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है।"[1] कविवर पंतजी प्रकृति के बड़े भावुक सुकुमार एवं भाव विदग्ध कवि हैं। 'ज्योत्स्ना लोक' की सृजन प्रक्रिया में स्निग्ध सौन्दर्य से युक्त प्रकृति का यह चित्रोपम स्वरूप उनके अन्तस् में साकार हो उठा है। उनकी कल्पना प्राकृतिक रहस्यों का स्पर्श पाकर यहाँ भाव-प्रवण हो गई है। सूक्ष्म एवं स्थूल दृश्यों का चित्रण अथवा स्थिति की अवतारणा करते हुए वे तदाकार हो जाते हैं, जैसे—प्रभातकाल, स्निग्ध प्रवाल स्वर्णाभा से मण्डित उदयाद्रि, मानो के सुमेरु की तरह अपना जाज्वल्यमान उत्तुंग मस्तक अपनी ही गौरव गरिमा में निर्भीक हो आकाश की ओर उठाए हुए है। शिखर पर विशाल विजय केतु सा नीलाकाश बालातप की वीचियों में फहरा रहा है। चारों ओर फैला हुआ पलाश का प्रफुल्ल वन वसन्तागम से नवीन जीवन की ज्वालाओं में सुलग उठा है। उपत्यका में सरोवर का राशि राशि सलिल स्वर्णजल 'सौ सौ इच्छा कांक्षाओं में उमड़कर लोट रहा है। पूर्वांचल के भाल पर उषा का आधुनिक रुचि से निर्मित' कुसुमित लताओं से वेष्टित, सुरम्य भवन शोभा दे रहा है, जिसके झरोखों पर कोमल किसलयों के कुसुमों पर्दे बार बार वायु में हिल रहे हैं—"पद्मराग का विशाल प्रवेश द्वार, रमणीक उद्यान, हरित दूर्वा परिवृत्त विटपकुंज लता मण्डप सोने का फुहारा, लाल रंग की सर्पाकार पगडंडियाँ।'[2] यहाँ सूक्ष्म चित्रण के साथ साथ कवि को कल्पना-विलास के लिए भी पर्याप्त अवकाश मिला है। इस अतीन्द्रिय रूप की अवतारणा स्वप्न एवं कल्पना के इस परिसंवाद में द्रष्टव्य है—'यह चेतना के निस्सीम प्रांगण में साँसों की डोरियों में झूलते हुए हृदय के स्पंदित पलनों पर सोई हुई असंख्य निश्चेष्ट आत्माएँ, स्वप्न और कल्पना के वायवी पंखों में उड़कर अभिनव भावनाओं के स्वर्ग-लोक में अभिसार कर आई हैं। नवीन सौन्दर्य के उन्माद में उत्तेजित होकर वे विश्राम करना भूल गई हैं। उन पर फिर से निद्रा के प्रगाढ़ विस्मृति का अंचल डालकर उन्हें सुला देना चाहिए जिससे वे मानसिक श्रान्ति से मुक्त हो कल स्वस्थ होकर जग सकें। कल का प्रभात सोने का प्रभात होगा।'[3] इस मंगलाशा में निश्चय ही गूढ़ वैचारिकता है जो सरस भाव बोध द्वारा प्रकट की गई है ये कथन अत्यन्त भावुक एवं प्रवाहयुक्त हैं। उदाहरणार्थ— कलियों के अधरों पर मँडराने का आनंद भौंरे ही जानता है। आम्रमंज-रियों को गंध कोयल ही पहचानता है, पत्तों में पंख सटाकर रहने का सुख कपोत को ज्ञात

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ८४
२ " " " ११०
३ " " " ८७

है।" इसी क्रम में ज्योत्स्ना का यह कथन भी परीक्ष्य है—"दक्षिण पवन कलियों से कहे, मेरे स्पर्श से तुम्हारी पंखुड़ियाँ पुलकित न हों; लहरों से कहे, मेरे छूते ही तुम सिहर; मत उठो; या दीप पतंग से कहे, मेरे प्रकाश से आत्मविस्तृत हो तुम प्राणों का वलिदान न करो...।"[1] ये उक्तियाँ काव्य-माधुरी से परिपूर्ण हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानवीय रूपांकन में कवि और भी भावुक हो उठा है। ज्योत्स्ना, इन्दु आदि पात्रों का स्वरूप काव्यमय है। इन वर्णनों से काव्य के उद्‌गार फूट रहे हैं। आकाश के स्तर से पंतजी ने पृथ्वी की जो स्वरूप-कल्पना की है वह बहुत कुछ रघुवंश (तेरहवे सर्ग) की भूपरिकल्पना से प्रेरित है। इसके अतिरिक्त ज्योत्स्ना की अनेक उक्तियाँ कवित्वपूर्ण हैं। छाया की चेष्टाएँ पंतजी की इन काव्य-पंक्तियो से पूर्ण साम्य रखती ज्ञात होती हैं—"वातहता विच्छिन्न लता सी—। धूल धूसरित मुक्त कुन्तला।"[2]

"दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा वढ़कर नित तरुवर के संग;
मुरझे पत्रों की साड़ी से ढक्कर अपने कोमल अंग।"[3]

वादलों के संतरण और संचरण की कल्पना इन पक्तियों में द्रष्टव्य है—"फिर परियों के वच्चों से हम सुभग सीप के पंख पसार, समुद तैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इन्द्र के कर सुकुमार।" इसी का गद्य-रूप यहाँ विद्यमान है। रूपक में पवन की चेष्टाएँ निराला-कृत—'जुही की कली' के नायक पवन से अद्‌भुत साम्य रखती है। दोनों का मानवीकरण यहाँ पूर्णरूपेण तुलनीय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्योत्स्ना का समस्त रूपक कवित्व के चटकीले रंग से सरावोर है। प्रकृति के उपादान इस काव्योन्मेष में वहुत सहायक हुए हैं, ज्योत्स्ना, उषा, रजनी, छाया, प्रभात आदि भाव-पात्र वड़े सम्मोहनशील है। पशु-पक्षियों में भी कवि का सौंदर्योपजीवी रूप मुखरित हुआ है। उसकी धारणानुसार लावा, शुक, हरिण, हंस आदि सौंदर्य-लोक के जीव हैं। चेतन वनस्पतियों में गुलाव, कुंद, नरगिस, रोज और अगणित सुवासित पुष्प अपना सरस अभिनय प्रस्तुत करते है जो पाठक को विस्मय-विमुग्ध कर देते हैं। यहाँ कल्पना-लोक का समस्त वायवी सौंदर्य स्थूल आकार में सूक्ष्मता के साथ अंकित किया गया है। आलोच्य रूपक में पद्य-खण्डों तथा गीतों का आधिक्य है, परन्तु गद्य-खण्ड़ो का काव्यात्मक चमत्कार उनसे भी अधिक रस-सृष्टि करता है। प्रकृति-चित्रण में पंतजी ने अपनी विलक्षण एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा एक-एक रेखा को उभार कर उसे सप्राण वनाया है। ओज, प्रसाद और माधुर्य सभी काव्य-गुण इसमें यथास्थान सुविन्यस्त हैं। वस्तुत: काव्य और कला के सम्यक् निर्वाह की दृष्टि से आलोच्य रूपक पंत की कवित्वपूर्ण नाटकीय प्रतिभा का प्रकृष्ट प्रमाण है।

ज्योत्स्ना में वैचारिक गूढ़ता के साथ-साथ विलक्षण रस-तरलता भी है। पात्रों के रूप सौन्दर्य का वायवीय चित्रण स्थूल और सूक्ष्म दोनों सीमाओं पर पहुँचकर महत्व-

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० २७
२. „ पल्लव पृ० ५५
३. „ „ „ ५६

पूर्ण बन पड़ा है। इन पात्रों की पारस्परिक प्रणय-व्यंजना, हाव भाव, हेला एवं अन्य शृंगारिक चेष्टाएँ गुण, वय और स्वभावानुकूल हैं। परम प्रणयी चकोर अपनी प्रेयसी से मानवीय प्रेम के सम्बन्ध में कहता है—"प्रेम की गाथाएँ गाकर मनुष्यों ने प्रेम करना सीखा। वह स्वप्न में भी पर स्त्री से प्रेम कर सकता है। तुम्हारे अधरामृत के बिना यह पूनो की सुधा का ज्वार भी मेरी तृषा तृप्त नहीं कर सकता। दूध फेन सी शकल शय्या पर क्षणभर आत्म विस्मृत होकर एकटक तुम्हारे मुखचन्द्र को देखने एवं अधर सुधा-पान करने की मेरी अतृप्त लालसा क्या इस जीवन में कभी पूरी हो जाएगी।'[1] चकवी के कोमल गात का स्पर्श, उसके सौन्दर्य की कमनीयता एवं स्नेह का माधुर्य उसे रोमांचित कर देता है। ज्योत्स्ना के प्रत्येक पात्र में राग रस तरंगें भरता है। उसका हर पात्र भावप्रवण है। नाटक का देशकाल वातावरण, परिस्थिति और उसका प्रतिपाद्य आद्यंत रसाप्लावित है। ज्योत्स्ना की प्रणय भावना जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय और अन्य संकीर्ण सीमाओं का उल्लंघन करके जीवन के चरम आनन्द के उच्चतम बिन्दु पर जा पहुँचती है। इसीलिए आज यमुना के प्रति, राज अरुण के प्रति, अगाध आयशा के प्रति अनुरक्त दिखाए गए हैं। विभिन्न देशों की सुन्दरियों द्वारा इस रूपक में वसन्तोत्सव सम्पन्न किया जाता है। आलोच्य कृति की स्पष्ट घोषणा है कि 'प्रेम ही जीवन है। प्रेम की मदिरा पीकर जब तक आँखें आरक्त नहीं हो उठतीं, तब तक जीवन का उपयोग कैसा।'[2] 'ज्योत्स्ना का मुख्य ध्येय है—अनुरक्ति और मोह के कारण का परिचय। उसे स्थूल से सूक्ष्म तक की समस्त गति प्रिय है। भूत जगत भी उसकी दृष्टि में उपेक्षणीय नहीं है। उषा का कथन है—'यह रूप-रंग रुचि रेखा का संसार ही मुझे सबसे प्रिय है। इस जड़ मिट्टी के आवरण को फाड़कर जीवन की अमर उर्वरता अपने ही सृजन सुख के कारण असंख्य आकार प्रकार धारण कर नित्य नव नव कलि-कुसुमों, भावनाओं, कल्पनाओं एवं भावोच्छ्वासों में फूट फूट पड़ती है। जीवन की अननुरूप स्थिति मिट्टी के अस्थिर अधरों पर मानो कभी कुम्हलाना ही नहीं चाहती। किसी अनाम सुख स्पर्श से यह निर्जीव चेतना शून्य धूलि नई-नई हरीतिमा में नव-नव अंकुरों में निरंतर होती रहती है। जीवन का यह आश्चर्यजनक, अज्ञेय सृजन-रहस्य हृदय को विस्मय से अवाक् कर देता है। केवल इसके सामने श्रद्धापूर्वक झुक जाने को जी करता है।'[3] ज्योत्स्ना में रूप सौन्दर्य का चित्रण प्रणय के संचारी रूप में हुआ है। प्रत्येक पात्र अनिंद्य सौन्दर्य एवं सौकुमार्य के कारण प्रियदर्शन है। उल्लू झींगुर आदि असत् पात्र अवश्य कुरूपता के परिचायक हैं, पर उनकी कुरूपता भी रूप की एक सीमा है। ज्योत्स्ना, इन्दु, सुरभि, पवन, सन्ध्या उषा, छाया आदि अपनी सुषमा के कारण अद्वितीय हैं। कवि स्वयं सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर विस्मय विमुग्ध है। ज्योत्स्ना-

---

१ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० १०३
२ „ „ „ ११३
३ „ „ „ १२५

लोक का प्रत्येक कण विलक्षण रूप-माधुरी और लोकोत्तर छवि से आपूर्ण है, जिससे कुरूप जीवन की कदर्यता का भाव पूर्णतः तिरोहित हो जाता है। इस लावण्य-विकास से प्रतिक्षण आनन्द की सृष्टि होती है और तभी लोकानुरक्ति जाग्रत होती है। ज्योत्स्ना प्रवृत्ति का संदेश देती है, निवृत्ति का नहीं; अतः पलायनोन्मुखी विराग ज्योत्स्ना-लोक में प्रविष्ट नहीं हो सका। उसने लोकानुरंजक दर्शन स्वीकार किया है, जो जैविक धरातल पर संस्थित होकर कुरूप को भी सुशोभित कर देता है। उसकी मंगलाशा है—'यह सृष्टि प्रेम की पलकों में अपने स्वरूप पर मुग्ध सौन्दर्य का स्वप्न बन जाए।'[१] वह सौर मण्डल के रमणीय एवं जाज्वल्यमान दृश्य भू पर अवतरित करना चाह रही है ताकि इसके प्रभाव से मानव-मन स्थूल वासनाओं के मोह से मुक्त होकर अभिनव सौन्दर्य-सुख और छवि में प्रतिबिंबित हो जाए। इन पात्रों के परस्पर प्रणय-निवेदन में माँसल भावना अवश्य है, पर वह स्थूल ऐन्द्रियता की सीमा से परे है, अस्तु स्निग्ध सात्विकता का निर्वाह इस कृति में आद्योपांत सफल सिद्ध होता है।

प्रस्तुत रूपक पंतजी की कलाकारिता का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रत्येक पात्र का भाव-चित्रण, गुण-कथन, स्वरूप, चेष्टा और मनोगति का निर्देशन अत्यन्त, जीवंत एवं युक्ति-युक्त है। उषा के वर्णन-क्रम में कवि पंतजी के हृदय की सूझ देखिए—"किशोर वयसा, स्मित मुख एवं सद्यः स्वस्थ, अनिंद्य सुन्दरी, सद्यः स्फुट, गुलाब-सा आनन, अध-खुले नील-नलिन से नयन, तिमिर की दो रेखाओं सी भृकुटियाँ, पीली-पीली घुँघराली अलकें, कीर की सी नासिका, चम्पक वर्ण, मदनबाण की कलियों सी उंगलियाँ, सोने की जरी की साड़ी, जरी की कंचुकी, उठे हुए वक्षस्थल।"[२] यहाँ उषा का सौन्दर्य-विधान एवं उसके उपमान द्रष्टव्य हैं। लेखक में आत्यंतिक सूक्ष्म दृष्टि है, साथ ही वचन-वैदग्ध्य भी। चित्रण के साथ रूपक का निर्वाह इस कृति की सर्वाधिक सिद्धि है।

उपर्युक्त पात्रों के संवाद, कथोपकथन अथवा सम्भाषण अवसरोचित, अत्यन्त संगत और रोचक है। पवन उषा से वार्तालाप करता हुआ आत्मभाव का विश्लेषण करता हुआ कहता है —"आपको प्रेम की विश्वमोहिनी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध आनन्द और उल्लास से आत्म-विस्मृत चराचरों का नृत्य दिखाऊँ।"[३] इस प्रकार की वचन-वक्रता और प्रत्युत्पन्नमति हर स्थल में प्राप्य है। पात्रों के कथोपकथन प्रायः अतिदीर्घ हो गए हैं, फलतः वहाँ विषय का उल्लंघन और स्थिति का विस्मरण भी हो जाता है। देशकाल का निर्वाह भी यत्र-तत्र शिथिल हो गया है। लेखक यदा-कदा आधुनिकता के मोह में इन भाव-पात्रों की सूक्ष्म सात्विकता को आहत भी कर देता है। जैसे इन्दु को स्लीपर पहनाना, पुष्पों को टसर के वस्त्र धारण कराना आदि अधिक संगत नहीं कहे जा सकते हैं। ज्योत्स्ना की भाषा आद्यन्त पात्रानुकूल है। दार्शनिक विचारणा और

---

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ५७
२. ,, ,, ,, १२०
३. ,, ,, ,, १२८

रागात्मक प्रबलता से परिपूर्ण रचना मे क्लिष्टता और गूढ़ता अनिवार्यत आ गई है फिर भी ज्योत्स्ना के नाट्यशिल्प मे गति, प्रवाह और रोचकता है। उसके शिल्प मे प्राञ्जल अभिनव प्रयोग हैं। तत्सम शब्दो की यहाँ भरमार सी है, जैसे—विभावरी, उग्रदत उदग्रनख, प्रचण्डचक्षु, नृमुण्ड, प्रलम्ब बाहु, करालजिह्व, ज्वालावेष्टित आदि यह समस्त शब्दावली सस्कृतनिष्ठ भाषा की पोषक है। कहीं कहीं बँगला के कुछ अप्रचलित शब्द भी छायावादी प्रभाव के कारण प्रयुक्त हो गए हैं यथा 'रलमल।' परिचायक कथनो (रग सूचनाओ) की भाषा अत्यन्त परिमार्जित, प्रौढ़ एव परिनिष्ठित है। आलोच्य रूपक मे कवित्व की मुखरता और भावनात्मक उत्कृष्टता, सम्पन्न भाषा के कारण ही सम्भव हो सकी है। कही-कहीं शब्दो की क्रीडा के कारण कथ्य मे रहस्यात्मक गोपनीयता या लाक्षणिक अस्पष्टता आ गई है, किन्तु अधिकाशत ज्योत्स्ना के वर्णन तथा चित्रण अत्यन्त सुकुमार, सजीव और सरस हैं। स्वच्छन्दतावाद के बावजूद भी शिल्प विधि पर शास्त्रीयता का कुछ प्रभाव है। पात्रो के विकासक्रम मे पाश्चात्य रचना प्रक्रिया भी प्रयुक्त की गई है, पर लेखक की मौलिकता तो अक्षुण्ण ही है। प्रस्तुत रूपक का रचनातन्त्र पतजी का सर्वथा नवीन आविष्कार है और इसीलिए यह कृति अपने प्रतिपाद्य की दृष्टि से उदात्त तथा रूप विधान की दृष्टि से महनीय है।

ज्योत्स्ना' म जीवन के व्यापक स्वरूप के दर्शन होते हैं, अत इसका वैचारिक पक्ष बडा प्रबल है। पतजी के मतानुसार मन स्वर्ग से अनेक नवीन शक्तियाँ भू मानस पर अवतरित होती रहती हैं। यहाँ आरम्भ मे उन दिव्य शक्तियों का गीत - 'हम मन स्वर्ग के अधिवासी प्रस्तुत किया गया है जिससे इन भावनाओ का स्वरूप और लक्षण स्पष्ट हो जाए। प्रस्तुत गीत मे नित्य विकसित, नित्य वर्धित तथा हम नामहीन, अस्फुट, नवीन, नवयुग अधिनायक आदि विशेषण विशेषत ध्यातव्य हैं। लेखक का कथन है कि जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकागी तत्त्वालोचन के दुष्परिणाम स्वरूप काल्पनिक मुक्ति के फेर मे पडकर जन समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई, उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता एकागी जडवाद के परिणामस्वरूप विनाश के दलदल म डूब गई। इसी समस्या पर अन्यत्र भी विचार किया गया है, जैसे—'पाश्चात्य जडवाद की मासल प्रतिमा मे पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा एव अध्यात्मवाद के अस्थिपजर मे जड विज्ञान के रूप रग भरकर हमने नवयुग की सापेक्षत परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया है। उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अग स्वरूप पिछले युगो के अनेक वाद विवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।'[१] ज्योत्स्ना म पतजी की सफल समन्वयवादी दृष्टि उद्घाटित हुई है, जो भौतिकता का सामजस्य स्थापित करती है। रूपान्तरित जीवन के ये मूल्य प्रामाणिक और तर्कसगत हैं। पतजी ने इस रूपक के माध्यम से अपनी सास्कृतिक चेतना और सहवर्ती युग की वैचारिक व्याख्या प्रस्तुत की

१ पत—ज्योत्स्ना, पृ० १०१
२ पत—शिल्प और दर्शन, पृ० १११

है जो विचारणीय हैं।

'ज्योत्स्ना' रूपक में नवीन मानव जाति के नवीन स्वर्ण युग का समारम्भ,[1] होता है। पंतजी की धारणा है कि प्राचीन संस्कृतियों ने मनुष्य के बीच अवरोध उपस्थित कर दिया था, जो दुर्भेद्य दीवार की भाँति व्यवधान बन रही थी। 'मनुष्य पर्वतों, समुद्रों को वशीभूत करने के लिए प्रयोसोन्मुख था। धीरे-धीरे विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के अमोघ दुर्गों पर उसने विजय प्राप्त की।"[2] मानव-प्रेम के इस उन्मुक्त प्रकाश में शनैः-शनैः विदेशीपन धुल गया। इसके संबन्ध में यमुना की उक्ति है कि— 'जिन प्राचीन संस्कृतियों के बुझते हुए अंगारों से हमारे नवीन प्रकाश की लौ उठी है, उन्हें हमें सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए।'[3] यमुना का जीवन प्रवहमान प्रेम के स्रोत से तरंगित है, किन्तु अब उसके जीवन में बालू की वेला ही शेष है। जार्ज उसे मरीचिका में भटकते मृग की भाँति मिल गया है। जिससे दोनो की जीवनधारा में नई उमंगों की नई बाढ़ छा जाती है। आधुनिकता का समर्थक जार्ज दृढ़ स्वर में कहता है—"पुरानी स्मृतियों के प्रेतों को आँखो के सामने मत आने दो। पिछले युग के संकीर्ण आकाश में जो जाति-विद्रोह का घना कुहासा छाया हुआ था, वह अब लुप्त हो गया है। मानव प्रेम के नवीन प्रकाश में राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूतप्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो गए हैं। इस समय देश-जाति के बन्धनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी अब पाँवों की बेड़ी या जीवन का बन्धन नही रहा। वह एक स्वाभाविक आत्मसमर्पण और जीवन की मुक्ति बन गया है। निरन्तर सहचर्य, परस्पर सद्भाव और सहशिक्षा के कारण आधुनिक युवक-युवती का प्रेम देह की दुर्बलता न रहकर हृदय का बल एवं मन का संयम बन गया है।"[4]

पूर्व और पश्चिम की सभ्यता का तुलनात्मक विश्लेषण पंतजी ने यहां सविस्तार प्रस्तुत किया है। मध्ययुगीन पौत्रार्त्य संस्कृति में एकागी अध्यात्म इस प्रकार प्रविष्ट हो गया था कि यहाँ का जीवन-दर्शन काल्पनिक तत्वावलोचन और मुक्ति के प्रलोभन में पड़कर वास्तविक स्तर से स्खलित हो गया था। यह संस्कृति समाज की ऐहिक उन्नति मे बाधक हुई। जीवन के प्रति वितृष्णा, विरक्ति और पलायनोन्मुखी प्रवृत्ति उत्पन्न करके वह निरपेक्ष हो गई। पाश्चात्य सभ्यता जड़वाद के दुष्परिणाम स्वरूप ससार के प्रति अतिशय आसक्त हुई, जिससे वह अर्थलोलुपता, इन्द्रिय-प्रियता, पशुबल एवं विनाश की ओर उन्मुख हुई। एक ओर संकलनात्मक बुद्धि का दुष्परिणाम था तो दूसरी ओर विश्लेषणात्मक बुद्धि का दुष्फल।[5] इनके समन्वय और संघर्ष से नवयुग की

---

१. पंत–ज्योत्स्ना, पृ० ६२
२. " " " ६३
३. " " " ६३
४. " " " ६५
५. " " " ७०

सृष्टि हुई है। लेखक की व्यक्तिगत धारणा है कि 'पाश्चात्य जडवाद की मासल प्रतिभा मे पूर्व के आध्यात्म प्रकाश की आभा भर एव अध्यात्मवाद के अस्थिपजर मे भूत या जड विज्ञान के रूप-रग भर हमने नवीन युग की सर्वाङ्गपूर्ण परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया है।'[1] इसी सदर्भ मे एक मन तत्त्ववेत्ता सुलेमान नामक पात्र समस्त स्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता हुआ कहता है—"अज्ञात काल से जन समाज के मन प्रवाह मे बहते हुए कुल गोत्र हीन निर्जीव विचारो के कदम ने जमा होकर मानव-जीवन के स्रोत को शतशत क्षीण धाराओ म विभक्त कर गतिहीन एव पगु बना दिया था। पिछले युग के मनुष्य के हृदय पर भूतकाल के आकषण का इतना भयकर भार रहा है कि उसकी समस्त विकासप्रिय प्रवृत्तियाँ अधोमुखी हो गई थीं। प्राचीन निर्मूल सभ्यताओ का इतिहास भूमि से उखड़े हुए निरथक जीर्ण शीर्ण आदर्शों, विचारो एव रूढ़ियो के शुष्क ठूठ अपने ही अपरिचय के अधकार है, भूत प्रेतो एव नराकृति ककालो की तरह सिर उठाकर अपने अस्पष्ट, अर्थहीन मूक इगितो स मानव-समाज को भयभीत और कर्तव्यविमूढ बनाते रहे। पिछले युग का इतिहास—प्राचीन लुप्तप्राय सस्कृतियो के मरणोन्मुख प्रेतो से मानव मुक्ति के विकट युद्ध का इतिहास है।"[2] युग का सत्य सदैव कल्याणकारी होता है। वह समग्ररूप मे मानसिक, आत्मिक एव लौकिक विकास का पोषण करता है। मानवीय सत्य लोक निरपेक्ष नहीं हो सकता, उससे प्रवृत्तियो के सत्-असत् स्वरूप का परिचय मिलता है। त्याग, विराग, अहिंसा, क्षमा, दया आदि धम निरपेक्ष नही हैं। त्याग और भोग दोनो साधक हैं। समत्व पर ही सत्य अवलम्बित है। अखिल सृष्टि में यही अन्योन्याश्रय का भाव विद्यमान है। एकमात्र सत्य अपने मे निरालम्ब या निराधार है। लौकिक सत्य एव लोक-जीवन अवश्य एक दूसरे के आश्रित हैं। "नवीन आदर्शों का जन्म होने एव व्यवहार मे आने से पहले अथवा लोक-समाज का बाह्य विकास होने के पूर्व ही उसकी मानसिक अवस्था मे एक मानसिक परिवतन पैदा हो जाता है। इसी प्रक्रिया मे मनोजगत या मनस्तत्त्व स्वय ही एक सूक्ष्म आन्तरिक विकास के कारण बदल जाता है।'[3] पतजी के कथनानुसार मनोविज्ञान स्वत अपूर्ण है, क्योकि वह मन की सीमाओ मे बँधा है। वह परिवतनशील है, क्योंकि आध्यात्मिक नियमो के वशीभूत है। वतमान युग ने मन की अधिभौतिक सीमाएँ तोड दी हैं और उसे विस्तृत आधिदैविक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। राग-विराग, त्याग भोग सभी एकागी सत्य है। समस्त ऋतियाँ, सम्पूर्ण विकास प्राकृतिक हैं, अस्तु अक्षय हैं। वे सावकालिक मूल्य रखती हैं। उनके मध्य सदैव प्रवृत्ति और निवृत्ति का माग बना रहता है। भोक्ता या द्रष्टा दोनो भावो में अध्यात्म का सम्बन्ध अक्षुण्ण रहता है।[4] ज्योत्स्ना मे वसतोत्सव

---

१ पत ज्योत्स्ना, पृ० ७०
२ " " " ७०
३ " " " ७०
४ " " " ७०

के श्रम गीत—'सब मानव मानव हैं समान' की आर्षवाणी समत्व की घोषणा करती है। सत्य के साक्षात्कार से शासन, नियम अथवा विधान का आविष्कार व्यर्थ है। सत्य स्वयं ही अन्तिम आत्म-प्रतीति है।

वस्तुतः विकास ही जीवन है। सभ्यता, शासन और लोक-समाज सभी इसके अनिवार्य अंग है। विश्व सदैव सदाचार से शासित है। विगत युगों में शक्ति के मूलाधार पर स्वत्त्वाधिकार रहा है, अस्तु उन्मद शक्ति से राज्यवाद विकृत हो गया। पंतजी ने प्रजातन्त्र और लोकतंत्र पर भी गंभीर विचार-विमर्श किया है। उन्होंने इन स्थितियों में वाह्य के साथ आन्तरिक सामंजस्य को आवश्यक माना है। समाज स्वतः व्यक्ति का मान नहीं हो सकता। अतः व्यक्ति से सामंजस्य आवश्यक है। इस प्रकार संस्कृति के समस्त उपादान अपने वास्तविक रूप में लोक-संग्रह के सहायक तत्त्व हैं। पंतजी ने विगत संस्कृति और आगामी लोक-पद्धति पर सूक्ष्म दृष्टि डालकर युगदर्शन की रूप-रेखा अंकित की है जिससे उनके पुनरुत्थान के संकल्प की पुष्टि होती है।

सामयिक समस्याओं पर भी पंतजी ने गूढ़ चिन्तन और गंभीर अन्तर्मन्थन किया है। आज के युग में शासकों में सेवा-भाव है। लोक विज्ञान की चरम परिणति शासन पद्धति में प्रवेश कर रही है। अधिकारों का उपयोग क्रमशः न्यून हो रहा है। सद्भावनाओं का घातक दण्डविधान परिसमाप्त हो चुका है। कारागार स्वयं शिक्षालय बन गए हैं। शिक्षा हृदय की साधना बनकर विश्व-संस्कृति को आत्मसात कर रही है। आज ज्ञान-पंथ के फूल हृदय के सरोवर में उग रहे हैं।[1] सूक्ष्म सृजनशक्तियों की सात्विक भावनाएँ जीवन में अवतरित हो रही हैं। परस्पर स्वाभाविक आत्म-समपर्ण, साहचर्य, सद्भाव आदि वृत्तियों का संवर्धन हो रहा है। यहाँ पंतजी की वैचारिकता दर्शन की उस सीमा पर पहुँच जाती है, जहाँ वे मानवी-वृत्तियों, अन्तः-प्रवृत्तियों और मनः-तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं। मनुष्य में सौन्दर्य-विभ्रम सदैव रहा है। वह भावनाओं के इन्द्रजाल में वास्तविकता का विस्मरण कर देता है। उसके सूक्ष्म वायवी हृदय-तत्त्व को एवं सीमाहीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है।[2] मनुष्य नग्न सत्य देखने में असमर्थ है, वह स्वप्निल शक्तियों का सम्मोहन करता रहता है। स्वप्नों की छाया उसके भावलोक में संचरण करती है। पवन का यह कथन ध्यातव्य है—"इस भूलोक के कुछ दार्शनिक तो तमोगुण के तिरोभाव को असम्भव मानते हैं और उसे सृष्टि के विलास के लिए एक आवश्यक उपादान भी मानते हैं।"[3] वस्तुतः दृष्टिकोण की सफलता समन्वय में है। विरोधों के बीच एक अविच्छिन्न एकता खोजकर सम्यक् ज्ञान का सम्यक् उपभोग श्रेयस्कर होता है। अन्तर का असंतोष तो

---

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ७६
२. ,, ,, ,, ५२
३. ,, ,, ,, ५७

बुद्धिजन्य है। कुमार का कथन इस दृष्टि से बहुत सतुलित है—"जन्म मरण, सुख-दुख जीवन के सहज विरोधी एव प्रतीप आविर्भावों के बीच मनुष्य को अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर एक बार सामजस्य स्थापित करना ही पड़ता है।"[1] सृष्टि के विधान मे तामसी प्रवृत्तियो का स्थान भी है और उपयोगिता भी है। वे अप्रत्यक्ष रूप से सृष्टि विकास मे सहायक हैं। विश्व की बाह्य सत्ता तमोगुण मे है, अत तामसी वृत्तियाँ गौण रूप मे सृष्टि का सहार करती हुई सूक्ष्म दृष्टि से सृजन मे सहयोग देती हैं। ये जीवो के अज्ञानजनित समस्त आघात-प्रतिघात सहकर अपने अन्तस्तल में सात्विक सूक्ष्म वृत्तियो के रस एव माधुर्य की रक्षा करती हैं, इसीलिये मनोवैज्ञानिक घृणा, क्रोध, भय आदि वृत्तियो को प्रेम, दया, आदर आदि का ही प्रतीप रूप बतलाते हैं।[2] इस नाम रूपात्मक जगत मे ही जीवन-शक्ति समग्र रूप मे वर्तमान है और वही पूर्ण सत्य है। विधाता की क्रियात्मक कला जन्म-मरणमय है, सृजन और सहार का द्वन्द्व अपनी विभिन्नता अथवा वैचित्र्य से मूर्त्त विश्व मे चरितार्थ होता है। परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप के दर्शन उभय प्रकार से प्राप्य हैं, "चाहे मूर्त्त से अमूर्त का अवलोकन किया जाए, चाहे अमूर्त्त से मूर्त्त का।"[3] इस दार्शनिक विवेचन तथा चिन्तन से रूपक के ललित स्वरूप पर दुर्बोधता और रहस्यात्मकता की छाया अवश्य पड़ती है पर उसकी विचार निधि समृद्ध हो जाती है। यत्र-तत्र यह दर्शन बहुत बौद्धिक हो गया है जिससे रस-तत्त्व मे बाधा पहुँची है, फिर भी ये निष्कर्ष अपने मे बड़े विलक्षण और विचारोत्तेजक हैं। इस दार्शनिक विचारणा पर सामयिकता की छाप है। सामयिक समस्याओ की उपेक्षा पतजी नहीं कर सके हैं। उनका दर्शन प्रत्यक्ष जगत का दर्शन है, वह तर्क मीमासा और बुद्धि का व्यायाम नहीं है। युग की गभीर समस्याएँ लेखक को चिन्तन की ओर अग्रसर करती हैं। एक पात्र का कथन इस मन्तव्य को स्वय प्रकट कर रहा है—"अपने समय की गभीर समस्याओ को सुलझाकर ही प्रत्येक युग का विजेता मनुष्य एक पग आगे उन्नति कर अपने पराक्रम से अर्जित नवीन विभवो का उपभोग करता है।"[4] युग की विषम स्थिति ने लेखक को उक्त विषय पर मनन करने को बाध्य किया है। पतजी भावुक, सवेदनशील तथा विचारक कृती होने के साथ-साथ महती जीवन के मनस्वी मीमासक या मनीषी हैं। प्रत्यक्ष जीवन एव जगत को वे उन्मुक्त दृष्टि से देखते हैं और तदनुकूल अपना स्वस्थ दृष्टिकोण स्थापित करते हैं। उनकी मान्यताएँ पूर्वाग्रह पर आधारित न होकर आत्मनिर्णय पर आश्रित हैं। समसामयिकता ने लेखक को सर्वत्र प्रभावित किया है। आज की स्थिति का यथार्थ चित्रण इन नाटकीय पात्रो के सम्वादो में प्राप्त होता है। आज के युग के मनोजगत मे सर्वत्र ऊहापोह और भ्रांति

---

१ पत—ज्योत्स्ना पृ० ८२
२ ,, ,, ,, ६७
३ ,, ,, ,, १२६
४ ,, ,, ,, ७०

दिखाई देती है। चतुर्दिक धर्मान्धता, अंध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों का संग्राम छिड़ा हुआ है। क्रमशः सृष्टि के गूढ़ प्रश्नों, जटिल समस्याओं और रहस्यों का सुलझाव हो रहा है फिर भी विकासवादी प्रक्रिया ह्रासोन्मुख है। मानव-जीवन जड़वाद की स्थिति में पहुँचकर भौतिक ऐश्वर्य और ऐन्द्रिय-सुखों के प्रति प्रलुब्ध होता जा रहा है। अर्थ-वाद के ऐतिहासिक तत्त्वालोचन से प्राचीनता पर आज अविश्वास-सा हो रहा है। वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत धनपतियों और आर्त्त-श्रमजीवियों में आन्तरिक विपर्यय है, किन्तु उनका मनोलोक कुछ द्रवित-सा हुआ है। जीवन के अन्तरतम में समस्त विरोध संगृहीत होते जा रहे हैं और एक नये विश्वव्यापी परिवर्तन का आवाहन कर रहे हैं। लेखक में भविष्य के प्रति मंगलाशा है। उसके मतानुसार स्वर्ण युग का निर्माण अवश्यम्भावी है। भावी गतिविधि पर दूरदर्शी दृष्टि दौड़ाते हुए नाटककार पंत का कथन है—"जब तक वह किसी सन्तोषजनक परिणाम पर नही पहुँच सकेगा, सृष्टि के सरल-सुगम-सनातन नियमों पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा और चारों ओर अज्ञान, अन्धकार, पशुबल एवं तामसी प्रवृत्तियों का बोलबाला रहेगा।"[1] 'ज्योत्स्ना' में लेखक को यह अन्तर्प्रतीति होती है कि आज विश्व में यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है। उसने इस रूपक में अनादि और अनन्त जीवन का दृष्टिकोण प्रतिफलित किया है। आज ज्ञान-विज्ञान की सत्य अभिवृद्धि अपेक्षित है, जिसके लिए उच्चादर्शों पर अडिग विश्वास और ऐसी अटूट आस्था होनी चाहिए जिससे चिरन्तन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ स्थापित हो सके। लेखक को तार्किक नहीं, आनुभविक सत्य अभिप्रेत है। वैकल्पिक तर्क-वितर्क या ऊहापोह इस युग के आदर्श नहीं हैं। द्वन्द्व, संघर्ष, ईर्ष्या, कलह और इन्द्रिय-व्यापार जीवन के असत् पक्ष है। ज्योत्स्ना कहती है—"इस आनन्दपूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होंने जीवन-संग्राम समझ लिया है। आत्मा के अमर आनन्द को क्षणभंगुर इन्द्रियों के हाथ बेच दिया है।"[2] आज प्रकृतिवादी मनुष्य भी इस स्तर से मुक्त नहीं हो पाते। झींगुर के रूप में सर्वत्र पाशविक सिद्धान्तों का प्रचलन हो रहा है। इन आसुरी उद्गारों में नैतिक अतिवाद, घोर अतृप्ति, उत्तेजनशील भावप्रवणता एवं अतिशय मादकता विद्यमान है। ज्योत्स्ना की शुभेच्छा है कि "संसार के मनोलोक में सूक्ष्म तत्त्व प्रवेशकर हृदय में उन्नत और सुसंस्कृत भावनाओं का विकास करें ताकि बुद्धिवाद के भूल-भुलइए में खोए हुए जड़वाद, सापेक्ष्यवाद, विकासवाद आदि अनेक वाद-विवादों की टेढ़ी-मेढ़ी पेचीली गलियों में भटकी हुई नास्तिकता और सन्देहवाद से पीड़ित पशुओं के अनुकरण में लीन मानव जाति का परित्राण हो सके।"[3] धर्मान्धता तथा रूढ़ि-प्रियता से निर्बन्ध होकर ही मानवीय स्नेह, सहानुभूति और शांति की व्यवस्था सम्भव है। 'ज्योत्स्ना' का लक्ष्य महान् है। उसे मानव-मन को जड़ता से

---

१. पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ४०
२. " " " ४१
३. " " " ४१

चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करता है।[1] मनस्तत्व की विवेचना स्वयं ही एक अनिर्वचनीय माया है। आत्मा के लिए काल्पनिक इन्द्रजाल या मिथ्या आत्मप्रवंचना निरर्थक सिद्ध होती है। हमें मृत्यु के समय में चेतना का प्रकाश लेना है। बाह्य प्रकृति के अनाचारों से मुक्त होने के लिए भूत विज्ञान की सृष्टि करनी है और आत्मिक उदासीनता का पराभव करने के लिए चिदानंद की अवतारणा करनी है। ज्योत्स्ना का कृती इन विराट तत्वों के संयोजन में निमग्न है। अपनी वैचारिक भूमि पर उसने इस स्वस्थ, और संतुलित जीवन-दर्शन का संवेदन किया है और उसे अनेक रूपों अथवा माध्यमों द्वारा नाटकीयतापूर्वक प्रकट किया है।

'ज्योत्स्ना' की उपलब्धियाँ महत् है। इतनी सबलताओं के साथ-साथ कतिपय शिथिलताएँ भी हो सकती हैं। प्रस्तुत रूपक का क्षेत्र इतना बृहद् है कि इन उपर्युक्त सूत्रों का समग्र संतुलन एवं संगठन सहज नहीं है। मैं अपनी मत पुष्टि-हेतु पवन के कथन को उद्धृत कर रहा हूँ—"पाषाण को प्रतिमा का स्वरूप देकर उसमें जीवन के हाव भाव भर देना सरल है किन्तु स्वप्नों के वायवीय सौन्दर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बाँध देना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।"[2] लेखक ने सफलतापूर्वक इन प्राकृतिक तत्वों को नवीन भावनाओं के वस्त्र पहनाकर तथा मानवीय रूप रंग-आकार ग्रहण कराकर 'उन्मुक्त निस्सीम में'[3] दिव्य प्रयोजन की पूर्ति के लिए धरती पर अवतीर्ण करवाया है। अस्तु पंतजी की यह एकमात्र नाट्य कृति 'ज्योत्स्ना' विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है। यह आश्चर्य का विषय है कि प्रारम्भिक कृति में इतनी सफलता प्राप्त करके भी पंतजी आगे इस शिल्प को अपना विश्वास नहीं दे सके। कारण उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, वे 'ज्योत्स्ना'-काल के पश्चात् भावना की सहज दृष्टि खो देते हैं। उन्हें जीवन का अन्तर्विश्वास बुद्धि के सहारे परिचालित करने लगता है।[4] अतः कवि की अन्तश्चेतना तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में नाटकीयता से पराङ्मुख हो जाती है। 'ज्योत्स्ना' की रचना का हेतु मूलतः वह तीव्र सांस्कृतिक संघर्ष है, जो अनेक घात-प्रतिघातों से प्रेरित होकर इन विराट मनोभावों में परिणत हो जाता है। उन्हें प्रस्तुत करने का सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम रूपक ही हो सकता है, जो बाद में (संघर्ष की समाप्ति पर) स्वतः समाप्त हो जाता है। 'ज्योत्स्ना' का यह वस्तु विषय केवल नाटकीय साँचे में ही घटित किया जा सकता था। उसके पश्चात् लेखक को सांस्कृतिक विचारणा का निरुपद्रव मार्ग मिल जाता है जिस पर आरूढ़ होकर वे पुनः पद्यात्मकता की ओर लौट जाते हैं। पंतजी ने यद्यपि अब तक दूसरे नाटक

---

१ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ५०

२ पंत—ज्योत्स्ना, पृ० ५७

३ ,, शिल्प और दर्शन, पृ० १११

४ ,, पर्यालोचन आधुनिक कवि २, पृ० १५

की रचना नहीं की है फिर भी वे नाटकीयता के दृढ़ समर्थक है—शिल्पी सौन्दर्य एवं रजतशिखर आदि (पद्य रूपक) इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। ज्योत्स्ना के बाद गद्यात्मक नाटकों की ओर वे अवश्य ही प्रत्यावर्तित नही हुए हैं। स्वयं 'ज्योत्स्ना' में भी गद्यात्मकता की ओर उनका विशेष प्रयास नहीं है। उनके संवाद और रंग-निर्देश प्राय: कवित्वपूर्ण हैं, जहाँ केवल तुकान्तता तथा छदोबद्ध प्रयास नही है, शेष पद्य का पूर्ण चमत्कार वहाँ द्रष्टव्य है। रचनातन्त्र तथा भावबोध की दृष्टि से इसे विशेष प्रकार का 'छायावादी गद्य' कहा जा सकता है। पतजी की प्रवृत्ति प्रयोगात्मक है। उन्होने साहित्य की प्रत्येक विधा जैसे—काव्य (प्रबन्ध, मुक्तक), गीत, गद्य-काव्य, नाटक, कहानी, रेखाचित्र, सस्मरण, उपन्यास, निबन्ध, समीक्षा आदि में प्रवेश किया है लेकिन किसी एक विधा में उनकी चित्तवृत्ति रमी नही रह सकी है। अपने उतरवर्ती काव्य का आत्मालोचन करने में अवश्य वे चिन्तनलीन दिखते हैं जो अब तक उनको अभीष्ट था पर वैचारिकता के एकान्त आग्रह के कारण यह 'गद्य पथ' ही उनका गन्तव्य बन गया है। पंतजी लोकरुचि के प्रबल समर्थक हैं और नवातिनव प्रचलनों के सफल प्रयोक्ता भी। यह युग हिंदी नाटक का पराभव काल है अत: पंतजी का भी इस ओर उदासीन रहना असम्भाव्य नही है। अब भी यदि हिन्दी जगत की रुचि वे इन नाटकों की ओर देखेंगे तो अवश्य ही अपनी इस कला को वे पुर्नजन्म देंगे।

पंतजी की उपन्यास कृति 'हार'

'हार' पतजी की उपन्यास कला का प्रथम और अभी तक प्रकाशित अन्तिम उपहार है। इसमे लेखक की किशोर बुद्धि का काल्पनिक चमत्कार प्रकट हुआ है। कवि का बचपन यहाँ पहली बार शाब्दिक मोह और साहित्यिक जिज्ञासा का एक सहज माध्यम तैयार करता है तथा मनोरम कल्पनाओं द्वारा अपनी सर्जनात्मक वृत्ति का परितोष ग्रहण करता है। इस कृति का एक ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि यहीं 'पत' के लेखक ने पहली बार लेखनी उठाई है और तबसे वह निरन्तर साहित्य की दिशा मे गतिशील रहे हैं। 'हार' कवि पत की प्रथम रचना होने के साथ ही उनके गद्य-पथ का पहला चरण है। लेखक के कथनानुसार—"मैंने अपने ऐसे ही किशोर स्वभाव तथा घर-बाहर की परिस्थितियो के वातावरण से प्रेरणा तथा बल पाकर अपना खिलौना उपन्यास 'हार' लिखा था जो मेरी सर्वप्रथम रचना कही जा सकती है।"[1] यह एक शुभ सकल्प ही है कि उपन्यास मे साहित्यिक जीवन का आरम्भ करने वाले कवि पत ने साहित्यिक जीवन की अन्तिम कृति के रूप मे उपन्यास लिखकर विश्राम लेने का निश्चय किया है। उनके कथनानुसार—"उत्तरा के बाद मैंने 'क्रमश' नामक एक उपन्यास लिखने का श्री गणेश किया था और उसके कई परिच्छेद लिख भी चुका था, किन्तु उसे अन्तिम कृति के रूप मे प्रकाशित करवाने के विशेष अभिप्राय से मैंने उसे आगे लिखना स्थगित कर दिया।"[2]

" मैंने अपना लेखक का जीवन सर्वप्रथम एक उपन्यास लिखकर प्रारम्भ किया था और अन्त मे भी मैं एक वृहद् उपन्यास के रूप मे ही अपने सृजन-कर्म को समापन करने के उपरान्त अपना शेष जीवन सामाजिक तथा सास्कृतिक कार्य को समर्पित करना चाहता हूँ।"[3]

इस कृति मे उदीयमान बाल लेखक की किशोर बुद्धि अधिक मुखर हुई है। पतजी की स्व-स्वीकृति के अनुसार इस उपन्यास की रचना १४ वर्ष की अल्पायु मे हुई थी जब कि वे छठी कक्षा के विद्यार्थी थे। जाडे की दो-ढाई महीने के अवकाश मे कुतूहलवश इसे लिखा गया था। लेखक के पारिवारिक जीवन के सचित काव्य प्रभाव और तब तक के साहित्यिक अध्ययन के सकेत तीव्र आग्रह से 'हार' मे फूट पडे हैं। बालक पतजी अपने अग्रज द्वारा बहुचर्चित रीतिकाव्य के शृगारी स्थलो, शाकुन्तल के

---

१ पत—प्राक्कथन—हार, पृ० १३
२ ,, शिल्प और दर्शन पृ० २६३
३ ,, साठ वर्ष—एक रेखांकन, पृ० ७३-७४

पुराख्यान तथा मेघदूत की वियोग-व्यथा से अत्यधिक आकृष्ट तथा प्रभावित था। समसामयिक खड़ीबोली की कविता एवं अन्य स्फुट चर्चाएँ जैसे गीता-दर्शन, योग-रहस्य आदि का भी संक्षिप्त आभास जिज्ञासु बालक को मिल चुका था, जो अपने भावुकतापूर्ण उद्‌गारों के साथ प्रस्फुटित होने के लिए आकुल था। 'हार' के प्रणयन द्वारा बाल लेखक की उक्त मनोवृत्ति पूर्णतः परिशमित हुई और उसी विकास-क्रम में हिन्दी-साहित्य की विविध दिशाओं में सक्रिय सृजन करने की चेतना उसके अन्तस्थल में परिव्याप्त हुई जिसके परिणामस्वरूप पंतजी का साहित्यकार इतना प्रबुद्ध एवं प्रौढ़ हो सका।

'हार' लेखक की बाल-रुचि की परिचायक कथाकृति है। उसके रचना-विधान में कोई विशेष संयमन और तारतम्य नही है। मानव-जीवन तथा समाज के प्रति लेखक की अनुभव-सिद्ध दृष्टि अभी जगी नहीं है। उसके निष्कर्ष समस्तरीय हैं और लक्ष्य अपरिपक्व। संस्कृत के कुछ प्रचलित काव्यों का अथवा हिन्दी की रीति कविता के बहुश्रुत पद्यों का ईषत् व्यक्त किन्तु अप्रकट प्रभाव इस कृति पर दिख रहा है। 'हार' का नायक एक काल्पनिक कर्मयोगी है,[1] जिसे प्रेम सन्यास दिलाकर फिर विरक्त बनाकर छोड़ दिया गया है। आलोच्य कृति में एकान्त प्रणय-निवेदनों तथा रूप-वर्णनों की साग्रह अवतारणा कर के 'बिहारी के नाविक के तीरों' का यथेष्ट प्रयोग हुआ है और प्रेम-वंचित हृदय को सान्त्वना देने के लिए लोकमान्य की गीता के कर्मयोगी भाष्य का भी प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है।[2] स्वामी सत्यदेव की लोकसेवा का भी मंद प्रभाव इस कृति में मुखरित हो रहा है। भाषा की कृत्रिमता, शैली की आलंकारिकता तथा विषय की विदग्धता के पीछे तद्‌युगीन शिल्प और विचार-पद्धति की अक्षुण्ण परम्परा है। गद्य-लेखन की प्रेरणा बालक पंत की विवशता रही है। उन्ही के अनुमानित कथनानुसार—"छन्द में तब अपनी गति उतनी न होने के कारण अपने चंचल किशोर मन को नित्य बढ़ती हुई भावराशि के बोझ से मुक्त करने के लिए मुझे गद्य का ही माध्यम अपनाना पड़ा होगा।"[3]

'हार' की कथावस्तु सुनियोजित नही है। उसमें प्रायः भावात्मक कथनो के लोभ से गत्यवरोध आ गया है। यत्र-तत्र निराधार संलाप प्रस्तुत किए गए हैं, जिनसे लेखक की प्रगल्भता का परिचय मिलता है। प्रकृति-वर्णन का सर्वत्र बाहुल्य है। प्रकृति-वर्णन के ही प्रयोजन से वसन्त पंचमी एवं प्रातःकालीन आराम वन की शोभा का वर्णन किया गया है जो कवित्व के कृत्रिम आग्रह के कारण अस्वाभाविक प्रतीत होता है। 'हार' के दीर्घ उद्धरण लेखक की बाल-चपलता का आभास देते है जैसे—"सुरसाल शाल है खड़े, विलास रसाल अहा···रस सरसाते है विरस रसा में सरस सद्‌म। मृदु

---

१. पंत—हार, पृ० १२
२. ,, ,, ,, १३
३. ,, ,, ,, १३

मद गन्धमय गन्धवह है मधुर रस रमन लेता मधु प्रिय मधुप पुंज कल मकल कमल-दल खिले खिलौने म लौने ।" लेखक ने कुतूहलवश ये पद्यात्मक चित्रण प्रस्तुत किए है जो शैशवोचित शब्द क्रीडा ही है। आलोच्य उपन्यास के कथानक की गति मंद है। 'हमारे लिए पारिजात के फूलों का एक सुन्दर हार गूँथ दो"—नायक-नायिका के इसी वार्त्तालाप मे कथारम्भ होता है। तदन तर—"भविष्य, आशा भी तुम्हें भविष्य मे हार पहनायेगी।" इस उक्ति मे घटना का बीज वर्तमान दिखता है और आगामी सम्भावना की सूचना भी। परिच्छेदों के शीर्षक घटना के केन्द्र बिन्दु से सम्बद्ध हैं। मूल विषय पारिवारिक नैतिक व मानसिक विनक या विकल्प के कारण अस्थिर सा ज्ञात होता है। लेखक की भावुकता अमयत होकर प्रकृति वर्णनों मे बिखर गयी है। हरी हरी दूब पर चरते मृग पर सुनहली किरण देखकर उसे कनक मृग का स्मरण होता है। वासन्ती प्रभात का उपवन, मद मद सुरभि सिंचित अनिल, अलिदल की मधुर गुंजन, विहगों की कलकंठ ध्वनि लेखक को प्राय मुखर कर देती है। नायक म युवावस्था का निष्काम स्नेह, अकपट विचार, हृदय मे प्रणय यौवन की मादक सुरा और सरस चितवन क्रमश उभरती दिखती है। विरहिणी नायिका को पचशरों का पचभूत वियोग अन्त मे आत्मनिवेदन के लिए बाध्य करता है। लेखक इस प्रेमासक्ति की व्याख्या करते हुए पूर्व पीडित ऐतिहासिक प्रेम पात्रों का स्मरण कराने लगता है। अनेक प्रयत्नो के बाद भी जब आशा का रुष्ट पति प्रभावित नहीं होता तो उसका सतीत्व जागृत होता है। अनन्त शांति, करुणा आदि उसके सतीत्व की मुक्तकठ से प्रशसा करती है। कालान्तर मे, घटना परिवर्तन के साथ शरदशशि की कवित्वपूर्ण कल्पना, शरद ज्योत्स्ना सम्बन्धी अनेक उद्धरणों एव कवित्वपूर्ण परिसवादो की ओर लेखक प्रवृत्त हो जाता है। बालक पत का यही विशेष प्रतिपाद्य है कि दाम्पत्य मे भी प्रेम सम्भव है। वहाँ विरह, दुःख और सताप नहीं बल्कि परम शांति, आनन्द, विमल बुद्धि एव निष्काम इन्द्रिय-निग्रह विद्यमान रहता है। अनेक पात्रो के अनुराग विराग की दुर्बलता एव कामान्धता सिद्ध करके उसने आशा और निराशा[1] का रोमाचक द्वन्द्व दिखाया है। नायक को अन्त मे अपनी स्थिति का यह आभास होता है कि वह वामन होकर चाँद को पकडने की इच्छा कर रहा है, 'नागिन को हार समझकर कठ-भूषण[2] बना रहा है।" इस प्रेम के निवारण के पश्चात् भी उसकी बाल्य क्रीडा की मधुर स्मृतियाँ उसे विह्वल करती रहती हैं और वह फिर निष्काम कर्मयोगी बनकर चचल प्रकृति तथा अस्थिर बुद्धि धारण करता है। पारिजात का 'हार' पराजित हो अन्त मे 'हार' बनकर[4] उसके गले पड जाता है। नायक की इस मनोवेदना मे प्रतिदिन वृद्धि होती

---

१ पत—हार, पृ० १८
२ पत— „ „ ६४
३ „ „ „ १००
४ „ „ „ १०५

जाती है। उसके हृदय में 'रति की रुचिर कलिका' शनैः-शनैः विकसित होती जाती है। लेखक यहाँ सौभाग्य की सराहना करता है और साथ ही उसकी प्रमत्तता का सविस्तार उल्लेख भी करता है। अन्ततः आत्मबोध प्राप्त होने पर इस भ्रांत पति को आत्मग्लानि अनुभव होती है। वह क्षमायाचना करता है और तब पत्नी विजया 'विजया' ही सिद्ध होती है। इन स्थलों पर लेखक ने साधना और साध्य प्रेम का उपदेश-प्रधान विवेचन किया है, अस्तु यथाक्रम गीता और भर्तृहरि के अनेक दृष्टान्त भी उद्धृत किए हैं। घटना-क्रम में बारम्बार पुनराशा की सृष्टि होती है, जिससे पुरानी घटनाओं और भ्रांतियों का स्पष्टीकरण होता जाता है। आधिकारिक कथा के केन्द्र-बिन्दु पर अनेक पात्र एकत्रित होते है जिनकी आत्मस्वीकृति और आश्वासन से सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कथा का अन्त अत्यन्त सुसम्वेद्य है। व्यक्ति-प्रेम त्यागकर भविष्य विश्व-प्रेम की ओर प्रवृत्त होता है। भारत की गौरव-प्रशस्ति के बाद कथावस्तु की मंगलमयी परिसमाप्ति होती है।

कला-पक्ष की दृष्टि से 'हार' में वे समस्त कृत्रिम प्रयोग प्राप्य है जो लेखक के समसामयिक वातावरण में अंकुरित हो रहे थे। उपन्यास का रचनातंत्र चमत्कारपूर्ण है। विस्मय की सृष्टि करना ही उसका अभिप्रेत है। भाषा के अलंकरण के प्रति लेखक विशेष प्रयत्नशील है। इस लोभ का संवरण न कर सकने के कारण कृति में यत्र-तत्र अप्रचलित और अशुद्ध शब्द भी प्रयुक्त हो गए हैं— यथा 'निर्माती'[1]। तुकान्तता के मोह-वश वह गद्य में भी आनुप्रासिक छटा दिखाने के लिए प्रयासोन्मुख है, जैसे—"मेरे मन की मीन, तुम अपने को इतनी दीना क्यो समझती हो।"[2] इस प्रकार 'हार' की भाषा कहीं-कही उपमा एवं अलंकारों के भार से दबकर अस्तव्यस्त हो गई है। परिणामतः अनेक उक्तियाँ अप्रिय तथा हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। कही-कहीं भाषा द्वारा सफल रूपकों की सृष्टि हुई है जैसे—-अंधकार रात्रि देवी का श्यामल शरीर है।[3] रूपको के निर्वाह में पंतजी की रूचि विशेष रमी है। कहीं 'हृदय-मरु में सलिल स्त्रोतस्विनी प्रवाहित' होती है तो कही 'नयन चकोर संकोच का जाल तोड़कर चन्द्रानन पर अँड़ जाते' हैं।[4] भाषा की कृत्रिमता के बावजूद भी कुछ स्थलो में प्रवाह और गतिशीलता आ गई है, जैसे—'सफलता की दृष्टि दीपक के तले अंधकार में ही विलीन हो जाती थी। उसकी जिज्ञासा, उसकी उत्कठा मानों अंधकार में किसी को ढूँढ़ती थी। उसकी अन्वेषण-भरी कातर दृष्टि के प्रभाव से दीप की शिखा भी चंचल हो जाती थी।'[5] इन पंक्तियों में उक्ति-वैचित्रय और भावावेश विद्यमान है। प्रस्तुत उद्धरण भी अपने विरोमाभास के कारण बड़ा प्रिय

---

१. पंत—हार, पृ० २०
२. ,, ,, ,, २२
३. ,, ,, ,, ३१
४. ,, ,, ,, ३७
५. ,, ,, ,, २६

लगता है—"जब नींव ही वसंत की मलयवायु में खड़खड़ाती हुई हिलती हो तो प्रासाद की दीवारें दुर्विपाक की आंधी में कहीं टिक सकती हैं।"[1] भाषा को लेखक ने अपने आलंकारिक मोह के कारण शिथिल अथवा पगु कर दिया है। उदाहरणार्थ —'वसंत ऋतु का अनुपम विभव, आराम की मद मद सुरभि सिंचित अनिल, अलिदल का मृदुल गुजन, विहगों की कलकठ ध्वनि ।'[2] यह शब्द क्रीडा उसके वर्ण्य-विषय में बाधक सिद्ध होती है। भावों की सहज अभिव्यक्ति में लेखक का अलंकरणपूर्ण कवित्व बाधक सिद्ध हुआ है। उसके अनेक कथन इसके साक्ष्य हैं जैसे—'रुचिर रूप-सरोवर में यौवन का प्रिय पद्म प्रफुल्लित होता हो—दृगमीन लीला सलिल के लिए—श्रवणचातक—वचन स्वाति—आकांक्षा चकोरी—आशा के स्नेह निधि—हृदय में पवन के वेग से लाल तरगें आदि आदि।' अलंकरण विधान कहीं-कहीं वर्णन में सहायक हुआ है और अत्यंत रुचिकर तथा साभिप्राय भी सिद्ध हुआ है जैसे—'प्राची से मुस्कुराती हुई उषा की अनुराग भरी अध-खुली आंखों के अरुण राग में अपने को रजित—फेन रूपी मुक्ताहार लिए अपने तरग रूपी अगणित पनले करों को—अलभ्य छवि में मुग्ध हो तरगायित कल्लोल' आदि। इन उक्तियों में भाषा की सजीवता के साथ ही भावों की मूर्तिमत्ता भी स्पृहणीय है।

'हार' की भाषा पर समसामयिक युग की छाप है। शब्दों में विशेषण विशेष्य के आधार पर लिंग और वचन का प्रयोग द्विवेदी युगीन प्रणाली रही है। लेखक ऐसे प्रयोगों की ओर सर्वथा सजग है। 'ज्वाला की प्रियतमा पतंगिनी'[3] ऐसा ही प्रयोग है। पतंगिनी का विशेषण 'प्रियतमा' स्त्रीलिंगी शब्द है जिसे विशेष्य के अनुरूप ही प्रयुक्त किया गया है। पतजी की वर्णन शैली कवित्व से प्रभावित है। सन्ध्या-वर्णन की अरुणिमा का चित्रण देखिए—प्रिय प्रवास की पंक्ति—'अचल की शिखरों पर जा चढ़ी किरण पादक शीश विरहिणी' में कितनी समता रखता है—'यह अरुणिमा कैसा मजुल मेल है। यही पवित्रता उच्च पादप शिखरों, उत्तुग अद्रि शृङ्गों तथा श्वेत वारिद राशि में अन्तर्हित रहती हुई विरहिणी के हृदय में पैदा होती है।'[4] भाषा एवं शब्दावली में लेखक ने सप्रयास क्लिष्टता और दुर्बोधता भर दी है, यथा—ऊर्ध्वनिर्दोष[5] सहस्रछिद्रिका दर्शन,[6] अस्तायमान रवि आदि। ऐसे विषम प्रयोगों से शैली का स्वाभाविक प्रवाह बाधित हो गया है। लेखक के मन में संस्कृतनिष्ठ हिंदी के प्रयोगों का अत्यधिक प्रलोभन है, जिससे पारस्परिक वार्तालाप अथवा सवाद-कला को प्राय क्षति पहुँची है, यथा—

---

१ पत—हार पृ० ३१
२ „ „ „ ३३
३ „ „ „ १३६
४ „ „ „ १३६
५ „ „ „ १५४
६ „ „ „ १५८

'आशा लज्जाधिक्य से भविष्य के मुख कमल पर अपने लोचनभृंग न अँड़ा सकी।'[1] दृग-खंजन आशा के मुख कमल में वास करने को फड़फड़ाने लगा। 'रजत पट परिधानित···मध्याधीरा की कोपान्वित वचनावली—'[2] ऐसे शब्द-प्रयोग के अप्राकृतिक मोह का कारण है—लेखक की अविकसित मनोवृत्ति। उसमें आत्मप्रदर्शन का लोभ है। पंत का बाल लेखक अपने शब्द-ज्ञान का विज्ञापन करना चाहता है। पंतजी भाषा के अन्वेषक और शब्द-शिल्पी माने जाते हैं। छात्र-जीवन में उन्हें 'मशीनरी आफ़ वर्ड्स' कहा जाता था। यह उनकी संस्कारजन्य भाषा है। अपने प्रौढ़ कर्तृत्व काल में भी वे अभिनव शब्दों का लोभ-संवरण नहीं कर सके हैं। यह प्रवृत्ति बीज रूप में आलोच्य कृति के अन्तर्गत विद्यमान है। कहीं-कहीं शब्दों का चमत्कार भावाभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुआ है और उन स्थानों पर उसकी कृत्रिमता अखरती भी नहीं; यथा—'विशाल भाल पर मणि मुक्ता विभूषित मुकुट मानों अर्घ चन्द्रकार ललाट पर सुधा बिन्दुओं का समुदाय स्वच्छ बिन्दुओं का सुंदर सीकर···'[3]। पर प्रायः शब्दमोह वर्ण्य-विषय में व्याघात उत्पन्न करता रहा है, जैसे—'कमलालया कमला कमल दल से उतरकर तरलंग के निर्मल जल में स्नान कर रही है।'[4] रंगीले नारंगी सदृश अधरों के भीतर मुसकान की मधुरिमा के बीच में उसके सित दंत बीजों से छिपे दिखलाई दिए'[5] अथवा 'आभास तारक राशि के झिलमिल में तुम्हारी लीला-जल की तुतली तरंगो में तुम्हारा बोलना, अलिदल के मृदु-गुंजन में तुम्हारी छवि, शरदेन्दु में तुम्हारी मनोरमता, वंसत के बाल विकास में तुम्हारा गाना, कोकिल के कल कंठ में क्रीड़ा सा करता है।'[6] कवित्वपूर्ण वर्णनों में लेखक ने उदाहरणों की भीड़ जुटा दी है। विरह के प्रसंगो में रीति कवियों की शृंगारिक उक्तियाँ यथावसर बहुतायत से उद्धृत की गई हैं। दृष्टान्त स्वरूप संस्कृत और भक्तियुगीन हिन्दी काव्य के सूक्त वाक्य भी उद्धृत हुए हैं। अधिकता के कारण ये कथन अप्रिय अथवा अपाच्य हो जाते हैं। व्याकरण और शब्दानुशासन की दृष्टि से भी कुछ अक्षम्य त्रुटियाँ प्राप्त होती है, जैसे—सतिएं,[7] दिखलावटी,[8] पचगे,[9] तथा निर्माती[10] आदि शब्दों के प्रयोग।

शैली के क्षेत्र में पंतजी ने अनेक परीक्षण किए हैं। वातावरण उपस्थित करते

---

१. पंत—हार, पृ० ३८
२. " " " १३६
३. " " " १५०
४. " " " ७१
५. " " " ४१
६. " " " ४५
७. " " " ६०
८. " " " ६४
९. " " " २३
१०. " " " २२

समक्ष दूसरा कोई परिलक्ष्य नहीं है। वह अपने शब्द-भण्डार का परिचय देने, अपनी किशोर मति में गृहीत जीवन के सहज तथ्य जो उसके समसामयिक जीवन में सामान्यत प्रचलित हो रहे थे, उन्हें अपने भाषा-ज्ञान के सहारे प्रकट करने का अभिलाषी है। यह उसके कृतित्व दर्प की अप्रत्यक्ष पूर्ति है। लेखक घटनाओं का आलवाल, कल्पना और स्वानुभूत सत्यों के आधार पर निर्मित करता है। साथ ही जीवन दर्शन की वैचारिक पीठिका में उसे सुविन्यस्त कर कुछ बौद्धिक स्पर्श भी दे देता है। 'हार' में यों भावुक स्थल भरे पड़े हैं। लेखक आद्यन्त इसी कैशोर भावुकता से प्रेरित है। वैचारिकता का त्याग उसकी भावुकता के ही कारण हुआ है। आलोच्य उपन्यास की शैली प्राय प्रायोगिक है। वह न अन्तिम है, न अन्यतम। कृति अभावग्रस्त होकर भी विकासात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी है। इन असफलताओं में ही लेखक की भावी सफलताओं का रहस्य है। उपलब्धियों का अनुमान तथा आकलन प्रस्तुत कृति में अपेक्षित नहीं है क्योंकि यह कृति लेखक पंत के स्तर का बोध नहीं करा सकती है, इससे केवल लेखक की उस स्थिति का अनुमान करना सम्भव है, जहाँ 'गद्य-पथ' पर उसका प्रथम बार पदविक्षेप हुआ था। अतीत अपनी आवृत्ति करता है, बल्कि विगत से अनागत को बल मिलता है। अस्तु! 'हार' तो नींव का पत्थर है। इतना निश्चित है कि १८ वर्षीय लेखक की बाल-बुद्धि का यह वैभव उसकी भावी गतिविधि के प्रति पाठकों को आशान्वित कर सका होगा। आज वही आशा फलवती हो रही है और वह अनुमान सत्य सिद्ध हो रहा है। 'हार' में पंतजी के विकास क्रम की स्वाभाविक प्रक्रिया तथा उनकी सम्भावना का बीज आरोपित हुआ है। पंतजी के गद्य की यही विलक्षणता है कि वह यथाक्रम अधिकाधिक समुन्नत, सुदृढ़ एवं सारगर्भित सिद्ध होता जा रहा है। 'हार' से 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' तक की विकास-यात्रा में उनकी सभी कृतियाँ मील के पत्थर की तरह हैं। 'हार' तो सुमिरिनी की माला की वह प्रथम गुटिका है जहाँ से साहित्य साधना का श्रीगणेश हुआ है। इसी का आरोहण करते हुए पंतजी सफलता के सुमेरु पर पहुँच सके हैं। स्पष्ट है कि हार का ऐतिहासिक मूल्य सदैव असन्दिग्ध है।

विषयवस्तु और तत्त्व चिन्तन की दृष्टि से 'हार' में अनेक समसामयिक समस्याओं के संकेत मिल सकते हैं। द्विवेदी-युग के प्रभावानुकूल पंतजी ने इसमें राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण सुधार की भावना भी व्यक्त की है। यथा, स्त्रियोद्धार तथा नारी व्यवहार के सम्बन्ध में उनके अभिमत हैं—"स्त्रियाँ कई बार लज्जावश अपने स्वामियों की आज्ञा-पालन करने में सक्षम नहीं हो सकती हैं।"[1] विजया 'निमेष' के अपशब्द का प्रतिकार करती हुई अपने प्रचण्ड सतीत्व का परिचय देती है—"मैं अपने धर्म को, स्त्री के धर्म को, सती के कर्तव्य को अच्छी प्रकार जानती हूँ। तुम इसके साधन में निमित्त मात्र हो, मैं तुम्हें नहीं पूजती, तुमसे सती धर्म को पूजती हूँ।"[2] उपन्यास की मूल कथा में नर-नारी

---

१ पंत—हार, पृ० २३

२ " " " ५५

वियोग, सतीत्व की विजय और पुनर्मिलन की घटनाएँ इसी भावना से प्रणीत हुई हैं। अन्य स्थलों पर भी लेखक ने अनेक वैचारिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है, जो उसके जीवन-दर्शन की सुदृढ़ सूक्तियाँ बन गई हैं। यथा—'जीवन की व्यथा जीव भली-भाँति जानता है। हृदय की भाषा हृदय पहचान लेता है।'[1] अथवा —'सुख-दुःख अचिन्त्य हैं। संसार में किसी का समय सदा एक-सा नहीं रहता।'[2] इस प्रकार के अनेक आदर्श वाक्य विचारणीय हैं। जीवन के अनुभूत सत्य का लेखक ने स्थान-स्थान पर स्पर्श किया है और एक उक्ति पोषक अनेक वाक्य रखे है। यथा—'जो पेट कपटे मुँह मीठे होते हैं, जो विषकुम्भ पयोमुखम् होते हैं, जो विष रस भरे कनक घट होते हैं।'[3] इन उक्तियों को लेखक ने अनेक स्थलों से संकलित किया है। सुख-दुख की विवेचना लेखक ने अत्यन्त सूक्ष्मता और विशदतापूर्वक की है। इस प्रकार पंतजी ने अपने प्रौढ़ वैचारिक निष्कर्षों का पूर्व संकेत इसी कृति में यथा-प्रसंग दिया है। 'गुंजन' का चिंतन-शील कवि जब घोषणा करता है—'बिना दुख के सब सुख निस्सार, बिना आँसू के जीवन भार।'[4] तो उसके साथ ही 'हार' के इन वाक्यों का स्मरण हो जाता है—'दुख भी कैसा सच्चा सुहृद है। यदि दुख नहीं होता तो मनुष्य अपने को इन गुणों से अलंकृत करने का कष्ट भी नहीं उठाता। दुख ही तृप्ति कारक है। यह सुख भारी छल है।'[5] इन चिंतनपूर्ण रहस्यों के अतिरिक्त उस पर तत्कालीन साहित्य की भी छाया है। लेखक अन्य अनेक कवियों से भी प्रभावित है। उसके संध्या-वर्णन पर 'प्रिय प्रवास' का प्रभाव दिख रहा है। साथ ही उसकी पदावली में द्विवेदीयुगीन गद्यशैली की छाप है। आधि-कारिक कथा द्वारा लेखक का निष्कर्ष परिपुष्ट होता है। उसके मत में—संसार में मित्रता भी एक दुलर्भ द्रव्य है। संवेदना भी अपूर्व शक्तिमती है। दुख भी बड़ा परीक्षक है। इन प्रतिपादित उक्तियों के साथ-साथ लेखक यत्र-तत्र अपना वैयक्तिक दृष्टिकोण भी स्पष्ट करता है। सम्पूर्ण उपन्यास राग, सौन्दर्य, प्रणय या रोमांस से आन्दोलित है। अतः प्रणय-व्यापार की व्याख्या एवं प्रेम-सिद्धान्त की सम्यक् विवेचना आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। मनुष्य जब सच्चा प्रेमी हो जाता है, अर्थात् जब वह अपने स्वार्थ को नष्टकर निष्काम रूप से अपने पात्र को प्यार करने लगता है, तब उसके हृदय से विषय-वासना उठ जाती है। वह क्षणिक सुख की आशा को छोड़ वास्तविक सुख की इच्छा करने लग जाता है और उसका प्रेम किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं रहता।

---

१. पंत—हार, पृ० ६१
२. " " " ६३
३. " " " ६४
४. " गुंजन " ६३
५. " हार " ६३
६. " " " १२७-१२९
७. " " " १३६

सारा संसार उसका प्रेम पात्र बन जाता है। यही प्रेम यथार्थ में भक्ति है। विश्व प्रेम ईश्वर भक्ति का एक खण्ड है।'[1] इस प्रकार का तत्व चिंतन 'हार' में यथावसर उपलब्ध है जो उपदेश प्रधान कृतियों या धर्म ग्रन्थों से अधीत एवं गृहीत ज्ञात होता है। लेखक का यही प्रमुख प्रतिपाद्य है कि प्रेम का पुरस्कार आनन्द है जो रुदन होने पर भी गंभीर गान है। गुप्तजी के 'रुदन का हँसना ही है गान'—गीत का भाव यहाँ स्पष्ट दिखलाई देता है। पंतजी ने धर्मप्राण भारत की आध्यात्मिक साधना, तीर्थ भावना तथा आत्मा-राधना का यहाँ सविस्तार उल्लेख किया है, साथ ही ह्रासोन्मुखी धर्म साधना पर चिन्ता भी प्रकट की है। पंतजी का जो जीवन दर्शन उन्हें भावुक की श्रेणी से ऊपर ले जाकर विचारक की कोटि में प्रतिष्ठित करता है, जहाँ वे अरविन्द, मार्क्स, गाँधी, विवेकानन्द तथा अन्य युग चिन्तकों के संतुलित एवं सामंजस्य पूर्ण निष्कर्षों के आधार पर आज के उपयोगितावादी, व्यक्तिवादी अतिबौद्धिकतावादी लोक जीवन की व्याख्या करते हैं और नवमानवतावाद की स्थापना करते हैं, वही निष्कर्ष इस बालकृति में, प्रस्फुटित होने के लिए आकुल दिखता है। आज पंतजी अपनी वैचारिक निधि के कारण उल्लेख-नीय हैं। इसका अनुमान तब सत्य सिद्ध होता है जब उनकी इस प्रथम कृति को वैचारिक दृष्टि से इतना समृद्ध देखते हैं। राष्ट्रीयता का भाव-बोध इस दुधमुँहे लेखक में कितनी तीव्रता से स्पंदित हो रहा था—इसका पुनर्कथन अपेक्षित नहीं। एक ही प्रमाण पर्याप्त है, जो लेखक ने कृति के अन्त में रखा है—'भारत तू धन्य है। तेरी सभ्यता का आलोक दिगन्त व्यापी हो रहा है। तेरी समाज की सुप्रथाएँ अत्यन्त उज्ज्वल रही हैं। तू ज्ञान का आधार रहा है, सभ्यता का सिरमौर रहा है।'[1] इन भरत वाक्यों से लेखक का मनोभाव स्पष्ट है। अस्तु मेरी स्पष्ट धारणा है कि 'हार' यद्यपि बाल लेखक का प्राथमिक प्रयास है फिर भी उसमें कुछ परिपक्व विचारों का निदर्शन भी होता है। उदीयमान लेखक के शुभ लक्षण और जीवन दर्शन के पूर्व संकेत इसमें स्पष्ट हैं।

इस प्रकार यह प्रकट है कि पंतजी की प्रथम कृति 'हार' अपने में अनेक भावी पद चिह्न समेटे हुए है। लेखक की औपन्यासिक प्रतिभा की यह प्रथम बानगी पाठकों का आह्वान कर रही है। पंतजी का शुभ संकल्प है कि वे उपन्यास लेखन द्वारा ही साहित्य सेवा में निरत होंगे। इसके लिए जिस 'कमला' नामक उपन्यास का समारम्भ वे कर चुके हैं। आशा है वे उसे अवश्य ही पूर्ण करेंगे। 'हार' की उपलब्धियों को देखते हुए हिन्दी-संसार कमला के प्रति बहुत आश्वस्त है। सम्भवतः पंतजी उसमें आज की भौतिकवादी ग्रस्त मानवता का युग धर्म प्रस्तुत करेंगे। उनकी वैचारिक सम्पदा उप-न्यास के कलेवर में अधिक रोचक तथा प्रामाणिक रूप में प्रादुर्भूत होगी—इस मंग-लाशा सहित हम उसके स्वागत के लिए समुत्सुक हैं।

---

१ पंत—हार, पृ० १४७

पंतजी की कहानियाँ

पंतजी ने गद्य-पथ विशेषतः कथाभूमि पर उतरकर सामाजिक धरातल पर अपनी दृष्टि दौड़ाई है। इन यथार्थ चित्रों में अलौकिक कल्पना है और भावुकता का सौन्दर्य भी। पंतजी ने कुल पाँच कहानियों की रचना की है किन्तु अपने शिल्प और कथ्य की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कहानियों के शीर्षक प्रायः प्रेम-विषयों से सम्बन्धित हैं पर उनमें पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादा का निर्वाह भी हुआ है। उनकी कथाकृति 'पाँच कहानियाँ' पंतजी के प्रथम और अन्तिम कथात्मक प्रयास का परिणाम है। इसके विषय व्यक्ति, परिवार और समाज की समस्याओं तक व्याप्त हैं। यत्र-तत्र इनमें कल्पना, सौन्दर्य तथा काव्यात्मक सरसता भी समाविष्ट हुई है। प्रस्तुत कहानियाँ प्रायः अनुभूतिपूर्ण हैं। इनमें लेखक की सूक्ष्म निरीक्षण-कला द्रष्टव्य है। इस कथा-शैली को पंतजी आगे अपना विश्वास नहीं दे सके हैं—यह विचारणीय प्रश्न है। पंतजी गद्य-पथ पर अपेक्षाकृत बहुत सफल हुए हैं और साथ ही विविध विषयों के गम्भीर विवेचन में भी वे दक्ष हैं। उनके प्राक्कथन गम्भीर दार्शनिक विचारणा से परिपूर्ण हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि पंतजी काव्य-सर्जना के अतिरिक्त वैचारिक गद्य की रचना में भी सक्षम हैं, किन्तु कथा साहित्य में उनकी चित्तवृति न रमने का एक विशेष प्रयोजन है। पंतजी हिन्दी काव्य में स्वच्छंदतावादी भावुक कलाकार और विदग्ध कल्पनाओं के राजकुमार बनकर अवतरित हुए हैं। वे मुख्यतः प्रकृति के कवि बनकर आए हैं। अपने सतत प्रयास और अनवरत संघर्ष से उन्होंने आधुनिक काव्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित कर लिया है, परिणामतः उनकी कृति-शक्ति का अधिक अंश इसी काव्य को सँवारने-सजाने एवं गढ़ने में लगा है। उन्होंने भावुकतापूर्वक अपने प्रारम्भिक काल में आरंभशूरता द्वारा इन पाँच कहानियों की रचना की थी। सम्भवतः लेखक ने इस विधा का परीक्षण और अपने कथा-शिल्प का आविष्कार करने के लिए उस दिशा में रुचि दिखाई, पर उसके आस्वाद के अनुकूल यह साहित्य सिद्ध नहीं हो सका। कहानियों में जो बौद्धिक एवं यथार्थ धरातल अपेक्षित रहता है वह भावुक कवि पंत को अभीष्ट नही है। इसीलिए उनकी एकमात्र उपन्यास कृति 'हार' भी यथार्थ से रहित केवल काल्पनिक मधुचर्या से रसस्नात है। यद्यपि प्रस्तुत कहानियों में इस यथार्थ के स्तर को छूने का प्रयत्न किया गया है पर वह पूर्णरूपेण प्रतिफलित नहीं हो सका है अर्थात् उन्हें यथार्थवादी नही कहा जा सकता।

आलोच्य कहानियाँ लेखक के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी सूक्ष्म आभास देती हैं। लेखक ने अपनी तीव्र अन्तर्दृष्टि द्वारा वस्तुस्थिति, पात्र और उनके गूढ़ चरित्रों के

भीतर झाँकने का प्रयत्न किया है। यहाँ चरित्र-चित्रण की बारीकी दिखाई देती है। घटनाओं की अपेक्षा लेखक ने पात्रों को अधिक महत्त्व दिया है। अनेक कहानियों में आदर्श की नींव शिथिल है और यथार्थ की सुदृढ़। पात्रों के मनोविश्लेषण के साथ साथ लेखक का अपना व्यक्तित्व भी मुखर हुआ है। यहाँ शैली के भी कई रूप हैं। अन्य-पुरुष-प्रधान कहानियों में पंतजी की कथा शैली पात्रानुकूल दिखाई देती है और स्वगत कथनों में आत्ममीमांसा करते समय यही शैली व्यक्तिवादी हो उठती है। घटना तथा परिस्थिति का विश्लेषण करते समय वर्णनात्मक अंश अधिक आए हैं, साथ ही क्रमबद्धता एवं सूत्रबद्धता का भी पर्याप्त निर्वाह हुआ है। लेखक स्वच्छंद कला शिल्प के अनुशासन में नहीं है। घटनाओं के निरूपण में लेखक की मनोवृत्ति दृश्य चित्रण में अधिक रमी है। प्रायः घटनाओं को सूक्ष्म दृष्टि द्वारा उभारा गया है। लेखक ने वातावरण को भाव-प्रधान तथा अलंकरण प्रधान बनाकर अपनी विशिष्ट कलामयी शैली का परिचय दिया है। भाषा में कवित्व के साथ साथ ला्ममय प्रयोगों का बाहुल्य है। बीच बीच में लोकोक्तियों का भी आश्रय लिया गया है। प्रस्तुत कहानियों में प्रसाद शैली का सा विषय-प्रतिपादन दृष्टिगत होता है। इनके संक्षिप्त कलेवर के अन्तर्गत अत्यन्त गम्भीर जीवन-समस्या का निदर्शन यहाँ द्रष्टव्य है। लेखक का ध्येय वस्तुतः आदर्शपूर्ण है और आधार यथार्थपूर्ण। व्यक्ति और परिवार की वास्तविक समस्याएँ, मानव प्रेम, करुणा, निराशा और संघर्षों के चित्र यहाँ यथातथ्य अंकित हुए हैं। समाज की प्रचलित कुप्रथाओं तथा जर्जर रूढ़ियों पर यत्र-तत्र लेखक ने मार्मिक आघात किया है। आलोच्य पाँच कहानियों में 'पानवाला' रेखाचित्र के क्षेत्र में एक सफल प्रयास है। एक युवक के कष्टमय जीवन का इतिवृत्त यहाँ सूक्ष्म निरीक्षण के सहारे प्रकट हुआ है। निश्चय ही यह उनकी श्रेष्ठतम कहानी या कथाकृति है। 'दम्पति' कहानी में उनका दृष्टिकोण यथार्थ के बजाय आदर्शपरक हो गया है। लेखक यहाँ पति पत्नी के सुखमय जीवन का विधेयात्मक संकेत देता है। पंतजी की ये सभी कहानियाँ उनकी लेखन-परम्परा तथा विकास क्रम की दृष्टि से अवलोकनीय हैं।

'पानवाला' का नायक पीताम्बर लेखक की स्वानुभूति का लक्ष्य और पूर्व स्मृति का आलम्बन है। पीताम्बर लेखक के बचपन का साथी दूकानदार रहा है। आज बीस वर्षों के बाद भी वह अपरिवर्तित है। उसके लिए भविष्य-सी सुन्दर वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान से अतीत है। लेखक पहले सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा उसका परिवेश स्पष्ट करता है। दूकान के बीचो बीच वही पुराना लैम्प टँगा है जो उसके किसी मित्र की इनायत है। चिमनी के ऊपर का भाग टीन की पत्ती का बना हुआ है। सामने एक मँझोले आकार का शीशा लगा है, जिसके पारे में धब्बे और चकत्ते पड़ जाने के कारण काँच के पीछे से बीच में द्रौपदी का तिरछा रंगीन चित्र चिपका दिया है। अन्दर कमरे में मूँज की एक चारपाई और बिस्तरा, खूँटी पर टँगा कोट, सिगरेट, दियासलाई के खाली डिब्बियाँ, एक लोहे की अँगीठी और कुछ चाय

का सामान रहता है, वाहर वही पुराना काठ का वैंच पड़ा है।[१] लेखक ने अत्यन्त साहस तथा निर्भीकता के साथ अपनी आत्मकथा (बचपन की कहानी) भी प्रस्तुत की है, जैसे—'दूकान के अन्दर अलमारी की आड़ में खड़े होकर सिगरेट-बीड़ी के दो-चार कश लेते।'[२] युवकों की रहस्यकथाओं—कलंकित गाथाओं का आविष्कार वहीं से होता है। विश्व के इतिहास का प्रवाह आने-जाने वालों के मुखों से निःसृत हो पीताम्वर के कर्ण-कुहरों में जाह्नवी की तरह समा गया।[३] लेखक पीताम्वर के सुखमय दिनों का संकेत देकर उसकी रईश-दिली और दारिद्रयपूर्ण विपम परिस्थिति का संवेदनापूर्ण चित्र भी खींचता है—"उसकी गोल चमकदार आँखों में गर्व और चालाकी भरी है। दृष्टि-गरिमा वाहर को फूट रही है, उसकी आँखे घँसी हुई लाल छड़ों से भरी छिलका निकाल देने पर पिचकी हुई लीची की तरह गंदली करुणा, क्षोभ, प्रतिहिंसा वरसा रही हैं। उसके कानों में कौओं के पंजे वन गए हैं।"[४] लेखक के इस चित्रांकन द्वारा नायक की प्रकृति और आकृति दोनों का चित्रमय आभास मिलता है, जहाँ कल्पना भी है और सतर्क दृष्टि भी। उसकी एक गूढ़ोक्ति है—'गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नींवू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढा विकृत कर दिया है।'[५] चित्रण के साथ-साथ लेखक गम्भीर वैचारिकता और सैद्धान्तिक मीमांसा करता हुआ अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है—"घर में दीप जलाकर प्रकाश का उपयोग करना एक वात है, स्वयं दीप की तरह जल उठकर प्रकाश वन जाना दूसरी वात।" इस प्रकार के सूक्त कथन अपनी व्याख्या के लिए पर्याप्त अवकाश चाहते हैं।

पंतजी की शैली मार्मिक प्रसंगों के चित्रण में वड़ी सक्षम है। वह प्रायः हृदय-स्पर्शी ज्ञात होती है, यथा—"मुक्तिप्रेमी मां-वाप उसकी शादी कर गए थे। एक असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अंधविश्वासों से निर्मित, माँस की लोथ, निष्प्राण, पति परायणसती का भार उस पर था।"[६] पीताम्वर हृदय से आत्माभिमानी और अमीर दिल है। सृष्टि-कर्त्ता ने उसका निर्माण करने में किसी प्रकार का संकोच या संकीर्णता नहीं दिखाई थी। वह जवानी की वहार लूटने को उत्साहित रहा है। जवानी का खुमार उतरने और होश जाने पर उसने अपने को मोर के पंख लगाए हुए कौए की तरह दयनीय, कुरूप और निकम्मा पाया।[७] लेखक ने उसकी सारी क्रियाओं का रहस्यमय उल्लेख अत्यन्त गोपनीय शैली द्वारा प्रस्तुत किया है—"एक रोज दूकान पर पान लेने को आई हुई एक

---

१. पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० १४
२. ,, ,, ,, ११
३. ,, ,, ,, १४
४. ,, ,, ,, १४
५. ,, ,, ,, १५
६. ,, ,, ,, १७
७. ,, ,, ,, १६

भीतर झांकने का प्रयत्न किया है। यहाँ चरित्र चित्रण की बारीकी दिखाई देती है। घटनाओं की अपेक्षा लेखक ने पात्रो को अधिक महत्त्व दिया है। अनेक कहानियों मे आदर्श की नीव शिथिल है और यथार्थ की सुदृढ़। पात्रो के मनोविश्लेषण के साथ साथ लेखक का अपना व्यक्तित्व भी मुखर हुआ है। यहाँ शैली के भी कई रूप हैं। अन्य-पुरुष-प्रधान कहानियो मे पतजी की कथा शैली पात्रानुकूल दिखाई देती है और स्वगत कथनो मे आत्ममीमासा करते समय यही शैली व्यक्तिवादी हो उठती है। घटना तथा परिस्थिति का विश्लेषण करते समय वर्णनात्मक अश अधिक आए हैं, साथ ही क्रमबद्धता एव सूत्रबद्धता का भी पर्याप्त निर्वाह हुआ है। लेखक स्वच्छद कला शिल्प के अनुशासन मे नही है। घटनाओ के निरूपण मे लेखक की मनोवृत्ति दृश्य चित्रण मे अधिक रमी है। प्राय घटनाओ को सूक्ष्म दृष्टि द्वारा उभारा गया है। लेखक ने वातावरण का भाव-प्रधान तथा अलकरण प्रधान बनाकर अपनी विशिष्ट कलामयी शैली का परिचय दिया है। भाषा मे कवित्व के साथ साथ तत्सम प्रयोगो का बाहुल्य है। बीच बीच मे लोकोक्तियो का भी आश्रय लिया गया है। प्रस्तुत कहानियो मे प्रसाद शैली का सा विषय प्रतिपादन दृष्टिगत होता है। इतने सक्षिप्त कलेवर के अन्तर्गत अत्यन्त गम्भीर जीवन-समस्या का निदर्शन यहाँ द्रष्टव्य है। लेखक का ध्येय वस्तुत आदर्शपूर्ण है और आधार यथार्थपूर्ण। व्यक्ति और परिवार की वास्तविक समस्याएँ, मानव प्रेम, करुणा, निराशा और सघर्षों के चित्र यहाँ यथातथ्य अकित हुए हैं। समाज की प्रचलित कुप्रथाओ तथा जर्जर रूढ़ियो पर यत्र तत्र लेखक ने मार्मिक आघात किया है। आलोच्य पाँच कहानियो मे 'पानवाला' रेखाचित्र के क्षेत्र मे एक सफल प्रयास है। एक युवक के कष्टमय जीवन का इतिवृत्त यहाँ सूक्ष्म निरीक्षण के सहारे प्रकट हुआ है। निश्चय ही यह उनकी श्रेष्ठतम कहानी या कथाकृति है। 'दम्पति' कहानी मे उनका दृष्टिकोण यथार्थ के बजाय आदर्शपरक हो गया है। लेखक यहाँ पति-पत्नी के सुखमय जीवन का विधेयात्मक सकेत देता है। पतजी की ये सभी कहानियाँ उनकी लेखन-परम्परा तथा विकास-क्रम की दृष्टि से अवलोकनीय हैं।

'पानवाला' का नायक पीताम्बर लेखक की स्वानुभूति का लक्ष्य और पूर्व स्मृति का आलम्बन है। पीताम्बर लेखक के बचपन का साथी दूकानदार रहा है। आज बीस वर्षों के बाद भी वह अपरिवर्तित है। उसके लिए भविष्य-सी सुन्दर वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान से अतीत है। लेखक पहले सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा उसका परिवेश स्पष्ट करता है। दूकान के बीचो बीच वही पुराना लैम्प टँगा है जो उसके किसी मित्र की इनायत है। चिमनी के ऊपर का भाग टीन की पत्ती का बना हुआ है। सामने एक मँझोले आकार का शीशा लगा है, जिसके पारे मे धब्बे और चकत्ते पड जाने के कारण काँच के पीछे मे बीच मे द्रौपदी का तिरछा रगीन चित्र चिपका दिया है। अन्दर कमरे मे मूज की एक चारपाई और बिस्तरा, खूटी पर टँगा कोट, सिगरेट, दियासलाई के खाली डिब्बियाँ, एक लोहे की अँगीठी और कुछ चाय

का सामान रहता है, बाहर वही पुराना काठ का बेंच पड़ा है।[1] लेखक ने अत्यन्त साहस तथा निर्भीकता के साथ अपनी आत्मकथा (बचपन की कहानी) भी प्रस्तुत की है, जैसे—'दूकान के अन्दर अलमारी की आड़ में खड़े होकर सिगरेट-बीड़ी के दो-चार कश लेते।'[2] युवकों की रहस्यकथाओं—कलंकित गाथाओं का आविष्कार वहीं से होता है। विश्व के इतिहास का प्रवाह आने-जाने वालों के मुखों से निःसृत हो पीताम्बर के कर्ण-कुहरों में जाह्नवी की तरह समा गया।[3] लेखक पीताम्बर के सुखमय दिनों का संकेत देकर उसकी रईश-दिली और दारिद्रयपूर्ण विषम परिस्थिति का संवेदनापूर्ण चित्र भी खींचता है—"उसकी गोल चमकदार आँखों में गर्व और चालाकी भरी है। दृष्टि-गरिमा बाहर को फूट रही है, उसकी आँखे धँसी हुई लाल छड़ों से भरी छिलका निकाल देने पर पिचकी हुई लीची की तरह गंदली करुणा, क्षोभ, प्रतिहिंसा बरसा रही हैं। उसके कानों में कौओं के पंजे बन गए है।"[4] लेखक के इस चित्रांकन द्वारा नायक की प्रकृति और आकृति दोनों का चित्रमय आभास मिलता है, जहाँ कल्पना भी है और सतर्क दृष्टि भी। उसकी एक गूढ़ोक्ति है—'गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नीबू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढ़ा विकृत कर दिया है।'[5] चित्रण के साथ-साथ लेखक गम्भीर वैचारिकता और सैद्धान्तिक मीमांसा करता हुआ अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है—"घर में दीप जलाकर प्रकाश का उपयोग करना एक बात है, स्वयं दीप की तरह जल उठकर प्रकाश बन जाना दूसरी बात।" इस प्रकार के सूक्त कथन अपनी व्याख्या के लिए पर्याप्त अवकाश चाहते हैं।

पंतजी की शैली मार्मिक प्रसंगों के चित्रण में बड़ी सक्षम है। वह प्रायः हृदय-स्पर्शी ज्ञात होती है, यथा—"मुक्तिप्रेमी मां-बाप उसकी शादी कर गए थे। एक असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अंधविश्वासों से निर्मित, माँस की लोथ, निष्प्राण, पति परायणसती का भार उस पर था।"[6] पीताम्बर हृदय से आत्माभिमानी और अमीर दिल है। सृष्टि-कर्त्ता ने उसका निर्माण करने में किसी प्रकार का संकोच या संकीर्णता नहीं दिखाई थी। वह जवानी की बहार लूटने को उत्साहित रहा है। जवानी का खुमार उतरने और होश जाने पर उसने अपने को ओर के पंख लगाए हुए कौए की तरह दयनीय, कुरूप और निकम्मा पाया।[7] लेखक ने उसकी सारी क्रियाओं का रहस्यमय उल्लेख अत्यन्त गोपनीय शैली द्वारा प्रस्तुत किया है—"एक रोज दूकान पर पान लेने को आई हुई एक

---

१. पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० १४
२. ,, ,, ,, ११
३. ,, ,, ,, १४
४. ,, ,, ,, १४
५. ,, ,, ,, १५
६. ,, ,, ,, १७
७. ,, ,, ,, १६

वेश्या के रूप सम्मोहन के तीर से बुरी तरह घायल हो, उसने शाम के वक्त चुपचाप गल्ले की सदूकची से पाँच रुपए का नोट चुराकर अपनी 'विपत्ति-निशा की कालिमा को एक रात के कलंक से और भी कलुषित कर डाला।'[1] पीताम्बर का यह स्वरूप वास्तव में अत्यधिक सजीव है। उस पर संसार ने विजय पाई है। वह युवक अपने सौन्दर्य से अवगत था। अपने सुन्दर स्वस्थ शरीर के प्रभाव से वह अनजान न था। युवावस्था की मत्त प्रवृत्तियों ने उसके चर्म चक्षुओं के सामने जो सौन्दर्य का स्वर्ग या आशा आकांक्षाओं का इन्द्रजाल उछाल दिया था, अपने और संसार के प्रति जो प्रगाढ़ अनुरक्ति एवं उपभोग का सामर्थ्य पैदा कर दिया था, उसकी अमंद मादकता से, उस प्रबुद्ध आकर्षण से वह भला कैसे आत्मविस्मृत होता? बाह्य जगत् के जीवन संघर्ष का आघात लगते ही उसकी सहज प्रेरणा उसके अन्दर यह आत्मविश्वास पैदा करती रहती थी कि उसके अभिमान का और उसके अस्तित्व का मूल्य आँकनेवाला कोई मिलेगा, कोई अवश्य मिलेगा, जो उसकी समस्त आशा आकांक्षाओं के लिए, उसकी प्रवृत्तियों की चेष्टाओं के लिए मार्ग खोल देगा, उसके सौन्दर्य से वशीभूत होकर स्वयं को चरितार्थ कर लेगा तथा उसे तृप्त कर देगा।'[2] पीताम्बर आजीवन विश्व व्यक्तित्व का चिरन्तन स्वरूप देखता रहता है। वह जीवन की समस्या से पृथक् रहा है। पेड़ की डाली से विच्छिन्न पुष्प की तरह वह अब मुरझाने और सूखने लगा है। विद्रूप भावना के कारण वह अब ताने और व्यंग्य को ही स्वभाव बना लेता है। उसका समस्त विश्वास भाव से उठ गया है।'[3] वह केवल जीवित रहने के अभ्यास से जीता है। आलोच्य कहानी का अंत अत्यन्त कारुणिक एवं संवेदनीय है, देखिए—'आज दीवाली के रोज दूकान सजाते हुए उसने एक पुराना मिट्टी का खिलौना कपड़ों की तहों से बाहर निकाल गद्दी के पास रखा है। जिसके लिए पाँच साल पहले वह खिलौना लाया था, वह तो रहा नहीं। यह खिलौना रह गया है। यह मिट्टी का नहीं था—'ऐसा कहते हुए पीताम्बर उसी तरह ठठाकर हँस रहा है।'[4]

इस प्रकार यहाँ एक व्यक्ति का सम्पूर्ण सांकेतिक जीवन-वृत्त लेखक ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि, गूढ़ अनुभूति और मार्मिक अभिव्यंजना द्वारा स्पष्ट किया है। स्थान-स्थान पर इन वर्णनों में भावातिरेक दिखाई देता है। पंतजी का कवित्वपूर्ण आग्रह इन प्रसंगों पर भावुकता की रंगीनी चढ़ाकर उन्हें प्रियकर बना देता है। अनुभूति के साथ लेखक की कल्पना शक्ति का भी योग है। प्रस्तुत कहानी स्वयं में रेखाचित्र के लक्षण समेटकर चली है। इसमें कोई विशिष्ट घटना नहीं है, अपितु इसके केन्द्र में एक व्यक्ति है, जिसके विभिन्न पहलू स्मृति संचारी द्वारा यथाक्रम उन्मिलित हुए हैं। 'पानवाला पीताम्बर

---

१ पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० २०
२ " " " २२
३ " " " २७
४ " " " २८

एक टाइप' है। वह एक वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि है। वर्ग-संघर्ष में उलझकर वह अंततः जीवन की आशापूर्ण गतिविधि तथा संभावना के प्रति विश्वास खो देता है। यहाँ चरितनायक के दोनों पक्ष—श्वेत और श्याम, अपने वास्तविक रूपों में चित्रित हुए हैं। स्वच्छंद भावुकता की अगाध गति से कल्पना के पंखों पर बैठकर उड़नेवाले मुक्त विहारी कवि पंतजी का यह सूक्ष्म निरीक्षण, यह यथार्थ रूपांकन और यह विस्मयकारी मनोविश्लेषण वस्तुतः बड़ा प्रभावकारी तथा स्तुत्य है। 'पानवाला' लेखक की पाँचों कहानियों में सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य चार कहानियाँ क्रमशः 'उस पार', 'दम्पति', 'बन्नू' और 'अवगुंठन' इसी संदर्भ में अवलोकनीय है। पंतजी की शिल्प-विधि तथा अन्य सामान्य उपलब्धियाँ प्रथम कहानी के आधार पर हृदयंगम की जा सकती हैं। शेष कहानियाँ केवल लेखक के विषय-वैविध्य के प्रयोजन से उद्धरणीय हैं। 'उस पार' शीर्षक कहानी अपनी मूलभूत घटना से अधिकांशतः विच्छिन्न है और आधिकारिक कथावस्तु से भी प्रायः असम्बद्ध है। अपनी शब्द-क्रीड़ा द्वारा लेखक ने यहाँ भ्रामक स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं। कथानक मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी और प्रणय-मूलक है। पंतजी का रोमांटिक प्रेमदर्शन, कवित्वमय आलवाल के साथ आलंकारिक मोह तथा कृत्रिम उपचारों के साथ यहाँ व्यक्त हुआ है। 'उस पार' कहानी रचनातंत्र की दृष्टि से सफल नही कही जा सकती है। सुबोध, गिरींद्र, सरला आदि पात्र-पात्रियों का परस्पर प्रणय और सम्मोहनकारी सौन्दर्य ही लेखक का विशेष प्रतिपाद्य है। अंत बहुत आकस्मिक और अस्वाभाविक लगता है। कहानी के लघु परिवेश में विस्तृत घटनाएँ भरी गई है। इसमें मनस्तत्वों का विश्लेषण गौण है। प्रायः स्थूल वर्णन ही स्फुट रूप से आए है। शैली अन्यपुरुष प्रधान है। यत्र-तत्र व्यक्तित्व पर भी धुँधला प्रकाश पड़ा है। रूप दृश्य और भाव मुद्रा के आलेखन की ओर लेखक अधिक सचेष्ट है। प्रणय-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पंतजी के सैद्धान्तिक टिप्पण बिना किसी अनुपात के आए हैं जैसे 'प्रेम तत्वतः एक होते हुए भी भिन्न स्वभावों में भिन्न रूपों से काम करता है।'[1] सतीश के प्रेम का प्रवाह शरीर से हृदय की ओर है और सुबोध का हृदय से शरीर की ओर। एक फ्रायड, दूसरा प्लेटो, एक प्रेमी, दूसरा कामी है। इस प्रकार की तुलनात्मक स्वभाव-निर्धारण की प्रवृत्ति अधिक उपलब्ध्य है। सौन्दर्य की रेखाएँ विजया के वर्णन में अधिक उभरी हैं। लेखक के कथनानुसार वह साँवले रंग, गदगदे सुडोल अंगों की रूपसी से अधिक मोहनी थी। उसके शारीरक सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए पंतजी अतिरंजना का आश्रय लेते हैं और साथ ही निर्भीकतापूर्वक उसे सांगोपाग प्रस्तुत करते है। जैसे—'उसकी उभरी छाती, क्षीण कटि प्रदेश, कोमल उरोज स्तवकों पर माथ रखकर प्रेम की विस्मृति का सुख लूटने के स्वप्न',[2] की ओर पंतजी की रसिक मनोवृत्ति विशेष आकृष्ट हुई है। प्रस्तुत कहानी में इस प्रकार के रसिकतापूर्ण उद्‌गार लेखक की किशोर रुचि तथा

---

१. पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० ३५
२. „ „ „ ३६

बचकानी मनोवृत्ति के परिणाम है। इनमे उदात्त गुणो का अभाव है, और साथ ही ये सारे कथन प्रसगानुकूल अथवा युक्तियुक्त भी नही है। कवि के प्रतिपाद्य चरित्र प्रेममय जीवन के समर्थक है, यथा—सुबोध प्रेम था तो सरला उसकी सार्थकता। सरला सार थी, रस थी। सुबोध उस प्रेम के मधुर फल का छिलका था। सुबोध अन्त शून्य था—"वह अजस्र शक्ति, वह निश्छल कूला की सहिष्णुता, वह चचल उद्वेलित जल धारा।"[1] पारस्परिक भेद प्रभेद स्पष्ट करके लेखक इन तत्त्वो की वैचारिक भूमि मे प्रवेश करता है। उसका निष्कर्ष है कि प्रेम और कर्तव्य, श्रेय और प्रेय की समस्याएँ भी मानव-जीवन की अन्य समस्याओं की तरह कभी न सुलझनेवाली समस्याओ मे से है। मानव जीवन न श्रेय और प्रेय के ज्ञान से चलता है, न श्रेय और प्रेय के सामजस्य से। मानव जीवन किसी दूसरे ही सत्य से चलता है। लेखक बार-बार अपनी सीमाएँ सूचित करता है। प्राय भावुकता के आवेश मे उसका कथ्य असतुलित हो जाता है और वह प्रतिपाद्य प्रसग का सयम खोकर कवि वपुण स्थलो अथवा वचारिक समस्याओ मे अन्तर्लीन हो जाता है। ऐसे अवसरो पर वह पाठको को स्मरण दिलाता है कि 'यह इस कहानी का विषय नही।'[3] 'इससे हमारी कहानी का सम्पर्क नहीं।'[4] वास्तव मे यह अनुपात के असयम का परिणाम है और साथ ही शैली की असमर्थता का भी। घटना के अन्तराल मे जाकर भी लेखक प्रेम की तात्त्विक मीमासा म दत्तचित्त हो जाता है। जैसे—प्रेम ज्वाला है, वह जिस पर पडता है, उसी को भस्म कर ज्वाला मे बदल देता है 'वह प्रकाश पुज है।'[4] सौदर्य के सुकुमार प्रसगो को कवि ने अपने कल्पना-वैदग्ध्य और भाव-प्राञ्जल्य से सुगठित किया है, पर कहानी कला यहाँ लचर ही है।

'दम्पति' मे लेखक ने दाम्पत्य जीवन के बनने और बिगडते हुए कुछ दृश्य अकित किए है। पार्वती एक विवाहिता ग्रामीण बालिका है। वह एक बडे सयुक्त परिवार मे भजन पूजन धर्माचरण आदि से काल-व्यय करती हुई सतोषपूर्वक रह रही है। पति उसे अत्यधिक प्यार करता है। गाँव की यह लडकी बडी निरालस, सक्रिय तथा हृष्ट-पुष्ट है। उनका परस्पर प्रेममय जीवन भली भाति बीत रहा है। इस दम्पति मे रसालाप कम है। वे केवल उपस्थिति के प्यासे है। 'उनकी बातो म केवल वाणी होती, शब्द होते, मन की गर्मी और ठडक होती।'[5] 'वस्तुत कला को छिपाना ही कला है। मन अपने को छिपाना ही उनका जीवन था। वे एक दूसरे को तो पहचानते थे पर

---

१ पत—पाच कहानियाँ, पृ० ४१
२ " " " " ४३
३ " " " " ४३
४ " " " " ४६
५ " " " " ४५
६ " " " " ६०

स्वयं खो गए थे।"[1] कालान्तर में इस परिवार में उत्थान और पतन की अनेक घटनाएँ घटित होती हैं। लेखक के अनुसार वह अपने में एक पृथक् कहानी है—'यह तो इस दम्पति के गृहस्थ की कहानी नहीं, यह कथा तो एक दूसरी ही कथा है।'[2] प्रस्तुत कहानी में लेखक अपनी सीमाएँ बड़ी स्पष्टता के साथ निर्धारित करता हुआ कहता है—'पार्वती के स्वामी का बुढ़ापा मैं ठीक-ठीक न लिख सकूँगा। कला को उससे शायद ही सहानुभूति हो। उसकी आलोचना कर सकता हूँ।'[3] कहानीकार यथाप्रसंग उसका अंधापन, बुढ़ापे का रेखाचित्र तथा उसके गूँगे प्रेम की अपाहिज परिणति प्रस्तुत करके बड़ा करुण वातावरण उपस्थित कर देता है। आज दोनों का प्रणय-सम्बन्ध विछिन्न होकर भी अभिन्न है —'वह आधार है स्वामी चित्र, वह रूपरेखा रंग है स्वामी मूर्ति, वह गृहस्थ की अस्थि का ढाँचा है, स्वामी माँस पिण्ड, वह निद्रा है, स्वामी स्वप्न, वह चेतना है स्वामी अनुभूति।'

घटनाक्रम के साथ-साथ परिस्थिति सर्जना के प्रति लेखक यथेष्ट रूप से दत्त-चित्त है। ऐसे स्थलों पर पंत जी की चित्तवृति प्रकृति के रमणीय दृश्यों में अधिक रमी है, जैसे—"उस समय दृष्टि से धुले शरद के आकाश की क्रोड़ में दूज की कला मंद-मंद मुस्करा रही थी···शरद की कोमल सन्ध्या ही उस पिंगल बछिया का रूप धरकर अपने काले चिकने नथनों की तन्द्रिल चितवन उस पर डाले हुए उसके स्नेह का उपयोग करने झोंपड़ी के द्वार पर आई हो। इस हँसमुख चाँद के टुकड़े पर रीझकर सामने नवोदित दूज की कला को देख दीनानाथ ने उस लड़की का नाम कला रख दिया।"[4] इस प्रकार उपर्युक्त घटनाओं को लेखक देशकाल-वातावरण के परिपार्श्व में रख कर उनकी संगति सिद्ध करता है। दम्पति के मनस्तत्वों का सफल निरूपण भी इसी आधार पर प्रभावोत्पादक और प्रेषणीय बन सका है। 'दम्पति' में वर्णन तथा चित्रण की बारीकी है, एक सरल स्वाभाविक चित्रण देखिए—' शरद की उज्ज्वल स्वप्नमयी चाँदनी और पूस के कोमल दिनमान, ग्रीष्म की अलसाई दोपहर और हेमंत की उनींदी रातें··· कण्व के तपोवन की शकुन्तला की तरह उसके विचार-बुद्धि न थी, सहज बुद्धि थी। वह सहज सुन्दर परिस्थितियों की सहज सुंदर सृष्टि थी।" परिस्थिति के विश्लेपण हेतु लेखक मनोविज्ञान का सहारा लेता है और पात्रों तथा परिस्थितयों का पृथक् रूप से विश्लेपण करता है। मनोविज्ञान के अनुमार मन तीन वस्तुओं से निर्मित है—'बुद्धि, राग और संकल्प अथवा ज्ञान भावना और कार्य-प्रेरणा।'[5] पार्वती एक संवेदनशील युवती है। उसकी मधुर रूपराशि ने भावना को जागृत कर दिया है फलतः विश्व की

---

१. पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० ६१
२. ,, ,, ,, ६७
३. ,, ,, ,, ७१
४. ,, ,, ,, ८२
५. ,, ,, ,, ६३

निस्सारता का ज्ञान सरस हो उठा है। इस रूपांग से चिरंतन बन्धन में नए भाव उद्भासित होने लगते हैं। एक वृद्ध व्यक्ति द्वारा कला का वरण किए जाने पर उसे अपने सौन्दर्य और यौवन की अनुभूति होती है। इस अनमेल विवाह की सामाजिक समस्या को प्रस्तुत करने के साथ ही लेखक मंगलाशाएँ भी प्रकट करता है—"एक दिन यह सारा वन हरे-भरे लहलहे फूलों से लदे हुए बाग में बदल जाए। मनुष्य की आत्मा का श्रम और प्रकृति की शक्तियाँ वर वधू की तरह मिलकर संसार के पारिवारिक सुख और शांति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें।"

'अवगुंठन' कहानी में लेखक ने जर्जर सामाजिक रूढ़ियों पर मार्मिक प्रहार किया है। 'नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन' की आवाज यहाँ दृढ़ता के साथ प्रतिध्वनित हुई है। 'अवगुंठन' का नायक रामकुमार इस पुश्तैनी रीति रस्म को नापसंद करता हुआ विरोध करता है। उसका संकल्प है—"अविद्या के अंधकार में पले हुए इन अंध रीति-रिवाजों के डैने तोड़-मरोड़कर समाज के जीर्ण वृक्ष की टूटी टहनियों में उनकी उलूक बस्तियों को जड़ से उखाड़ फेंक देना होगा।"[1] उसकी कामना है कि "घर में एक नया चांद का टुकड़ा आकर नई चाँदनी फैलाए—एक नवीन वयस, नवीन जीवन अपने नवीन उल्लास उमंग के चंचल मुखर पद-न्यास से उस जड़ सम्पत्ति को सजीव कर दे, उस विलास-नीरव भवन में स्वर भर दे।"[2] युवा कवि पंत का मनोभाव यहाँ पूर्ण आवेग के साथ उद्भासित होता है जिसका संकेत भावी पत्नी के प्रति कविता में मिलता है। संसार की आँखों में कोमल झुटपुटे का जो परदा पड़ा रहता है, लेखक उसका गूढ़ रहस्य उद्घाटित करना चाहता है। लेखक के भावुक हृदय पर यहाँ साम्यवादी (मार्क्स का) प्रभाव है। वह ऐतिहासिक क्रम में संसार का ज्ञान आदर्श सत्य द्वारा देखना तथा परखना चाहता है। मनोविज्ञान के अवलम्ब से वह इन विषम समस्याओं को 'तीस डिग्री के कोण' से नाप रहा है।

उपर्युक्त कहानियों में वैचारिक परिपक्वता के साथ यथानुकूल सरलता भी है। लोकाचार और आत्म-प्रतीति से बँधे हुए जीवन का लेखक को प्रत्यक्ष बोध हो रहा है। प्रत्येक स्तर पर वह व्यक्ति स्वातंत्र्य या स्वच्छंदता की पुकार लगाता है। लेखक किसी विशेष आकांक्षा से प्रदीप्त है। प्रस्तुत कहानियों के अनेक पात्र उसके वैयक्तिक भावों के प्रतिनिधि हैं। उनके व्यक्तित्व का सम्यक् निरूपण लेखक का अभिप्रेत है और उनकी मान्यताएँ ही उसके जीवन के लिए आदर्श हैं। इन कहानियों में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न नहीं बल्कि अंतर्घटित है। इन सभी कहानियों के प्रभावपूर्ण अंत द्वारा लेखक अपने स्वस्थ निष्कर्ष प्रतिष्ठित करता है।

कहानीकार पंतजी का यह प्रारम्भिक प्रयास भावी पथ-संकेतों को इंगित करता है। वस्तुतः कथा-साहित्य लेखक की कृति-शक्ति का केन्द्र नहीं बन सका है क्योंकि पंतजी

---

१ पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० ६१
२ ,, ,, ,, ६१

का विचार-दर्शन इस ललित साहित्य की कलात्मक विधा में सिमट नहीं सका है। उनका जीवन-दर्शन इतना प्रबल है कि वह वस्तु-वर्णन, पात्र-चित्रण और परिस्थिति के विस्तार के लिए अवकाश ही नहीं देता। कवि पत प्रायः प्रेम-वृत्तियों के भावुक प्रसंगों में आत्मविस्मृत से हो गए हैं। सौंदर्य की स्निग्ध दृष्टि, प्रेम की प्रमत्त स्थिति में और साथ ही मनोरम प्रकृति का परिवेश उनके आत्म चैतन्य को अभिभूत करता रहता है। प्रकृति चित्रण की इस प्रणाली से वातावरण और परिस्थितियाँ अवश्य प्रकट हो गई हैं, किन्तु कहानी का कलात्मक अनुपात अव्यवस्थित हो गया है। प्रायः कथा-सूत्र विकलांगी होकर कहानी को असंतुलित कर देता है। फिर भी ये प्रकृति-वर्णन बड़े मनोरम बन पड़े हैं जैसे—'पावस सन्ध्या के कोमल नील अँधियारे की तरह फैले हुए सघन कुन्तलों में हरसिंगार के फूल छोटे-छोटे तारों के समान हँस रहे थे।'[1] प्रकृति-चित्रण का आग्रह लेखक के मन में बहुत प्रबल है। ऐसे कथनों की यहाँ भरमार है। ये उद्धरण लेखक की भाषा का परिचय देने में भी अलम् है। यथा—'समस्त वन की विषण्ण निर्विकार क्रिया शून्य स्वच्छंद आत्मा—उसका स्वप्नपूर्ण सशंक रहस्यमय छाया-लोक झंझा के झोंकों ने शब्दायमान वन की घनी छाया के रंग का उसका श्यामल वर्ण विटप स्कन्धों से सशक्त, माँसल अँग पेशल हरीतिमा से भरा हुआ कृष्ण आनन और स्निग्ध नयन—वन की कला के प्रतिरूप था।'[2]

इस प्रकार के कवित्वपूर्ण एवं भावुकतापूर्ण प्रसगों में कवि पंतजी का मन बहुत रमा है। कहानी-कला की दृष्टि से इन रचनाओं का विशेष स्थान न होते हुए भी हिंदी गद्य क्षेत्र में ये कहानियाँ सुरक्षणीय है। इनके शीर्षक संक्षिप्त, सार्थक और कुतूहलपूर्ण हैं। पात्रों के चरित्र अधिक भास्वर नहीं हैं केवल 'पानवाला' ही इस दृष्टि से विशिष्ट प्रयोग माना जा सकता है। कथोपकथन का अंश यहाँ न्यून है। इन कहानियों में प्रायः वर्णनात्मक, भावात्मक और कथात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इन रचनाओं में पात्रानुकूल भाषा का अभाव है। यहाँ कवि की काव्यात्मक भाषा ही अधिक वेग के साथ प्रकट हुई है। इनका उद्देश्य महत् है। लेखक की दृष्टि आदर्शपरक है। प्रणय-रहस्यों के साथ-साथ लेखक सामाजिक सुधार का प्रयासी है। कहानियों पर प्रायः छायावादी कवि पंतजी की काव्य प्रवृत्ति की झिलमिल छाया पड़ती दिख रही है।

---

१. पंत—पाँच कहानियाँ, पृ० ६०
२. " " " ७८

पतजी का आत्मसस्मरण-साहित्य

'साठ वर्ष एक रेखाकन' पतजी की आत्मसस्मरणात्मक कृति है। इसमे कवि के जीवन की घटनाओ का क्रमबद्ध विवरण प्रकट हुआ है। प्रस्तुत चार वार्ताओ मे लेखक ने अपने साहित्यिक जीवन का क्रम विकास निरूपित किया है। यहाँ वैयक्तिक जीवन-सघर्ष को उतना स्थान नहीं मिला है, जितना अपेक्षित था। सम्भवत इसलिए कि इस कृति मे व्यक्तिगत घटनाओ के लिए न उपयुक्त स्थान था और न यथोचित अवसर। इन सस्मरणो के आधार पर पतजी का समस्त साहित्य प्रामाणिक रूप मे हृदयगम किया जा सकता है और साथ ही उनके मानसिक विकास तथा जीवन प्रवाह के पथ-सकेत भी इगित किए जा सकते हैं। प्रस्तुत कृति मे चार वार्ताएँ सकलित है, जो परस्पर वैचारिक एकसूत्रता और एकतानता से सुनियोजित हैं। लेखक ने यहाँ अपने साहित्यिक जीवन के साठ वर्षों का सूक्ष्म रेखाकन प्रस्तुत किया है। ये वार्ताएँ जिस क्रम मे प्रस्तुत की गई हैं, वह इस प्रकार है—प्रकृति का अचल, विकास-सूत्र और अन्त सघर्ष, प्रभाव और बाह्य-सघर्ष तथा नव मानवता का स्वप्न। पतजी हिन्दी के विशिष्ट आत्मालोचक कवि हैं। अपने 'आत्म' के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यधिक उदार तथा मुखर है। आत्मचेता कलाकार पत अपने अन्तर्निहित कवि को सागोपाग जानने, पहचानते और परखते हैं। यहाँ केवल निज के प्रति उनका अध मोह अथवा सपक्ष दृष्टिकोण ही नहीं है, उनकी यह आत्मप्रतीति अपने कृतित्व के क्रमिक विकास तथा व्यक्तित्व के स्वाभाविक स्वरूप को प्रकट करने मे सक्षम है। प्रस्तुत चार वार्ताएँ कवि पत के समग्र काव्य सचरण और उनके साहित्यिक जीवन की समस्त गतिविधियों का प्रामाणिक एव सुश्रृखलित विवेचन प्रस्तुत करती हैं। कवि का यह आत्म साक्ष्य व्यक्तिवादी समीक्षा के लिए विशेष उपयोगी है।

'प्रकृति का अचल', शीर्षक वार्ता मे कवि की प्रारम्भिक परिस्थितियो की झलक मिलती है। 'फूलो की किसी अम्लान स्तवक-सी यह स्मृति' अनेक एव रगों की सतरगी पखुडियाँ बिखेर देती है। इस रचना मे किशोर जीवन की मधुर घटनाएँ और कूर्माचल की उस विशिष्ट सौन्दर्य-स्थली कौसानी के सुनहले अचल की मोहक मर्म छवियाँ लेखक के मुख से फूट पडी हैं। बालक पत का जिज्ञासा भरा मन उन 'नीली रुपहली ऊँचाइयो' मे चढता-उतरता रहा है। कोपलो की मर्मर ध्वनि, रग-बिरगा अतरिक्ष, आम के वृक्षों की रुपहली वनाली, आसमान को हरियाली का फव्वारा,

शोभा-गरिमा-घनी हरीतिमा का निरन्तर काँपता हुआ एक पर्वत शिखर[1] आदि प्राकृतिक उपकरणों का संकेत देकर लेखक अपनी स्मृति को स्फुटित कर रहा है। पंत का कवि प्रकृति की देन है, जिसका मुख्य श्रेय उनकी जन्मभूमि को है। पर्वत प्रदेश का वह प्रतिपल परिवर्तित प्रकृति वेष' साथ ही 'कूर्माचल का पावस' एवं 'अल्मोड़े का वसंत' उसकी अव्यक्त काव्यात्मा को मुखर कर देते है। इसी पर्वतीय पार्श्वभूमि से पंतजी के किशोर मन का सौन्दर्योपजीवी कवि जागृत होकर प्रथम बार प्राकृतिक वैभव से प्रभावित होता है। उनके काव्य में प्रयुक्त सभी भाव-प्रभाव इस कथन के आधार पर खोजे जा सकते हैं—प्रकृति के ऐसे मनोरम वातावरण में मेरा मन अपने आप उस निर्निमेष नैसर्गिक शोभा में तन्मय रहना सीखकर एकांतप्रिय तथा आत्मस्थ हो गया। मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही प्राकृतिक सौन्दर्य की मौन रहस्यभरी अनेकानेक मौन तहें[2]···आदि। अपने अग्रज से प्रभावित होकर पंतजी किस प्रकार रीतिकालीन साहित्य तथा संस्कृत काव्यानुराग के प्रति आकृष्ट होते हैं, और लेखक-जीवन की सरसता कैसे इस कवि को धीरे-धीरे आत्मविभोर करने लगती है—इसे प्रमाण पुष्ट प्रणाली द्वारा प्रस्तुत करके लेखक अपने साहित्यिक संस्कारों का यथातथ्य रूप प्रकट करता है। ग्रामीण जीवन के बाद अल्मोड़े का नागरिक-आवास पंतजी के जीवन में प्रवेगवती प्रवृत्तियों तथा रुचियों का मनोविन्यास करता है। पंतजी ने अपने बचपन के दिनों को स्मृत्यालोक के आधार पर इन रेखाचित्रों से संबद्ध कर दिया है। अपना नाम, स्वभाव, वातावरण और अपने नवोदित कवि के प्रारम्भिक प्रयासों के सूक्ष्म संकेत देकर लेखक अपने समस्त साहित्य की आनुषंगिक उपलब्धियों के समग्र मूल्यांकन का स्थायी मापदण्ड निर्धारित करता है जो स्वयं एक मूल्यवान प्रदेय है।

पंतजी का कवि निरन्तर संचरणशील रहा है। अपनी इन विकासात्मक स्थितियों में वे क्रमशः अनेक आयामों में प्रवेश करते हैं। उदाहरणार्थ 'घने रेशम से काले बाल' कवि पंतजी को अत्यधिक प्रिय रहे है। यहाँ लेखक की भी यही स्वीकारोक्ति है—'नैपोलियन का युवावस्था का सुन्दर चित्र देखकर स्वयं भी लम्बे घुंघराले बाल रख लिए।'[3] कवि का केशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह टैगोर के चित्र को देखकर उन्हें और भी निश्चित हो जाता है। इस कृति में व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास एवं आत्म प्रतिष्ठा के व्यापक दृष्टिकोण का प्रकृष्ट परिचय मिलता है। कवि स्वयं के प्रति बड़ा सर्तक है। जीवन के श्वेत-श्याम दोनों पक्षों को उसने सहज भाव से अंकित किया है। बाल्यावस्था में पंतजी के प्रति आरोप, जनापवाद, जनश्रुतियाँ और अन्य जो भी धारणाएँ रही हैं—लेखक ने स्पष्टतापूर्वक उन्हें यथाप्रसंग प्रस्तुत किया है। जैसे समवयस्क बालक उन्हें 'सुगरकेन' कहते, साथ ही 'मशीनरी आफ़ वर्ड्स' कहकर उन पर व्यंग्या-

१. पंत—साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृ० ११
२. " " " " १२
३. " " " " १६

त्मक प्रहार करते आदि। प्रस्तुत दोनों जनश्रुतियाँ कवि पत के सौकुमार्य भाव-माधुर्य तथा उनकी शब्द-शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। पतजी सौन्दर्यनिष्ठ कवि हैं, उनमे सौंदय की अनिर्वचनीय पवित्रता के अभिजात सस्कार बद्धमूल हैं। उन्हें अपने वस्त्रों और अगो के प्रति प्रेम रहा है। लेखक की आत्मोक्ति है—'अपनी पीढ़ी के किशोरो म मैं सुन्दर गिना जाता था।'[1] इस उक्ति मे घोर सत्य समाविष्ट है। इस कृति से स्पष्ट है कि स्वामी सत्यदेव आदि मनीषियो के सम्पर्क का प्रभाव पत के वैचारिक निष्कर्षों के रूप मे प्रकट हुआ है। उदीयमान कवि की दृष्टि प्रारभ से ही हरिऔध और गुप्तजी की काव्य-योजना पर रही है। अन्य अनेक काव्य-प्रभावो को भी यहाँ कवि मुक्त कठ से स्वीकार करता है। पर्वतीय जीवन से स्थानान्तरण हो जाने के बाद बाहर का क्षितिज सीमित होता जाता है। उनके शब्दो मे—"सिर धुँधले नीले आकाश का घेरा भर रह गया और पहाड़ो की घाटियो पर से दौड़ने वाला सुदूर तक फैला गहरा हरा प्रसार दृष्टि से ओझल हो गया, किन्तु बड़े नगर के जीवन तथा जन समागम की गरिमा के कारण मेरा मन क्षितिज प्रबुद्ध तथा विकसित होता रहा है।"[2]

पतजी के सस्मरणो मे कोई विशेष कलुषित स्वार्थ अथवा कोई दुराग्रह धारणा नहीं है। उनकी उक्ति है—"नवीन कल्पना और सौन्दर्य-बोध के परिणामस्वरूप-कल्पना तथा सौंदय के पख खोलकर मेरा मन भीतर ही भीतर किसी नवीन अनुभूति के भावना लोक मे उड जाने के अविराम प्रयत्न में जैसे व्यग्र रहता था।"[3] अपनी रचनाओ में कवि अपने पूर्ववर्ती तथा कुछ समसामयिक कवियो के भावलोक की अस्पष्ट छाया स्वीकार करता है। यत्र-तत्र कवि का आत्म-मोह भी फूट पड़ा है। सम्भवत आत्म गौरव का लोभ-सवरण न कर पाने के कारण पतजी का 'कवियश प्रार्थी' रूप इतना प्रगल्भ हो गया है। उनके अपन ही कथनों मे आत्मप्रशस्ति के भाव हैं, जैसे—'काव्य सृजन के लिए सम्भवत मुझमे नैसर्गिक सस्कार रहे हैं।'[4] अपनी काव्य-साधना का आभास देने के साथ ही पतजी ने समसामयिक काव्यान्दोलनो का यथातथ्य निरूपण भी किया है। छायावादकालीन हिंदी काव्य की गतिविधि और उसकी ऐतिहासिक विकास-रेखा भी इस सन्दर्भ मे प्रस्तुत की गई है। प्रगतिवादी काव्यान्दोलन का भी उल्लेख यहाँ प्राप्य है, साथ ही पतजी के दिशा परिवर्तन का भी। प्रगतिशीलता के कारण पतजी व्यवस्था विरोधी बनते हैं और फलत इनका काव्य नीरस हो जाता है। उनकी आत्म स्वीकृति है कि 'जीवन निषेध भरे निर्मम प्रभावो से मेरा हृदय हिम-शिला-खण्ड की तरह जमकर कठोर विषण्ण तथा रस शून्य हो गया था।'[5] ये सूत्र सकेत पत-काव्य

---

१ पत—साठ वर्ष एक रेखाकन पृ० २२
२ " " " " २४
३ " " " " २७
४ " " " " २८
५ " " " " ३६

के अध्ययन की दिशा में बहुत उपयोगी ज्ञात होते हैं। पंतजी के आत्मकथ्यानुसार उनके कवि जीवन का विकास-सूत्र स्नेहपूर्ण अंचल की छाया में बढ़ा है। किशोर कवि पंत का मानस और उनके तरुण कवि का आत्म-विश्वास पूर्ण निरन्तर ऊर्ध्वोन्मुख रहा है। पंतजी के जीवन के समस्त अन्तस्सघर्ष और उनके काव्य के सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य प्रभाव इन संस्मरणों द्वारा प्रकट हुए हैं। कला और शिल्प सम्बन्धी जो प्रेरणा अपने प्रथम काव्य-उन्मेष के साथ-साथ कवि ने रवीन्द्र-साहित्य से ग्रहण की है या ब्रज बनाम खड़ी बोली के भाषा-संघर्ष में जो उसकी गतिविधि रही है—उसके सूत्र यहाँ स्फुरित हुए हैं। पंतजी महात्मा गाँधी के व्याख्यान से किस प्रकार प्रभावित होते हैं और अर्थकरी विद्या की ओर से विमुख होकर तथा असहयोग की भावना से प्रेरित होकर कैसे जीवन की धारा मोड़ लेते हैं, ये सारे वृत्तान्त भी यहाँ प्राप्य है। जब लेखक के पारिवारिक मनोभाव निष्क्रिय एवं ममताहीन हो जाते हैं और तटस्थता के बृहद् निर्मम शून्य में कवि की महत्त्वाकांक्षाओं के संघर्ष चलते हैं, जब कवि जागरण के भीतरी पक्ष में जूझता हुआ मानसिक, बौद्धिक तथा चेतनात्मक द्वन्द्व से आन्दोलित हो जाता है उसका यथा-तथ्य विवरण द्रष्टव्य है—'इस शून्य अगम्य एकाकी आत्म साक्षात्कार के दुस्सह स्वाद के कारण ही मैं अपने और अपने चारों ओर की परिस्थितियों के जगत् के बारे में सोचने-समझने को बाध्य हो उठा।"[1] कालान्तर में उसे प्रेमासक्तिपूर्ण मधुर अन्तर्दृष्टि से सान्त्वना मिलती है। उसके प्राणों की शिराओं से पवित्र-रस सगीत प्रवाहित होने लगता है और उसका तत्वचिंतन एवं विश्लेषण संश्लेषण पूर्ण काव्य-प्रणयन प्रारंभ हो जाता है। इस अन्तर-मन्थन के कारण ही कवि अपने चतुर्दिक सामाजिक जीवन को समझने-परखने का अश्रांत प्रयत्न करता है। पंतजी की यह अल्पायु कवि इन सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभवों और सशक्त विचारों के कारण अन्ततः एक सुस्थिर मानसिक स्थिति प्राप्त करता है और निरन्तर अनुभूतिप्रवण सर्जना में अन्तर्लीन होता जाता है। इस अन्तःसंघर्ष में भी कवि की आस्था अक्षुण्ण रहती है। अंत में चैतन्योपलब्धि से सर्वांगीण दर्शन का साक्षात्कार होता है। पंतजी का अन्तस् जागरूक हो उठता है। इस कथन की पुष्टि तत्कालीन रचनाओं से होती है। कवि विचारों के सम्पोषण द्वारा पुनः जीवित हो उठता है और मानव-दायित्व तथा जीवन मूल्यों के प्रति निरन्तर प्रबुद्ध होता जाता है। मानवीय अनुपयोगिता से खिचकर वह छायावाद से विदा लेता है। इस अन्तस्साक्ष्य से स्पष्ट है कि पंत का कवि युग-संघर्ष से आक्रांत है। उस पर युग पुरुषों के तपःपूर्ण व्यक्तित्व का ऐसा ओजस्वी प्रभाव पड़ता है कि वह अपना अन्तर्मंथन करके युग-जीवन में व्याप्त वैषम्य के विष का पान करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। और फिर अपने विचारामृत से साहित्य को रसप्लावित करता है।

पंतजी का कवि बाह्य प्रभावों और अन्तस्संघर्षों से निरन्तर उत्प्रेरित रहा है। कवि ने अपने में डूबने का जो सुयोग पाया है, फलतः चैतन्य के भीतरी स्तरों का उसे

---

१. पंत — साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृ० ३८

आभास होता रहा है। लेखक ने अपनी भावातिरेकपूर्ण मानसिक स्थिति का मूल्यांकन भी यत्रतत्र किया है। उसका दृष्टिकोण प्रायः आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ है। अतएव आत्म भावनाओं को वह विश्व प्रेम में परिणत करके उन्हें उदात्त प्रेम चेतना में निमग्न कर देता है। अपने तारुण्य की प्रणय-चेतना द्वारा वह जीवन के सुनहले स्वप्नों का सुसंयोजन करके उर्वर मानसिक द्वन्द्वों की सृष्टि करता है। पंतजी ने अपने कृतित्व तथा अपने जीवनादर्श के सम्बन्ध में भी यत्र तत्र प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार भौतिक युग के संघर्ष का जो आभास 'गुंजन' तथा 'ज्योत्स्ना' द्वारा होता है, वह उनके अकलुष, उज्ज्वल, तथा कोमल कला प्रेम का प्रतीक है। कवि की स्वीकारोक्ति है—मेरे अंतरतम में एक अवसाद तथा अतृप्ति मुझे कुरेदती रही है और अपने जीवन के साथ ही मानव जीवन की सार्थकता खोजने की साध निरंतर मेरे मन में चलती रही है।''[1] यही कवि के हृदय में विश्व जीवन के प्रति आत्मत्याग का भाव आता है और वह हर समस्या का समाधान ऊर्ध्व स्तर में ग्रहण करने लगता है। लेखक पंत के जीवन की धारणाएँ और उनकी अन्य अव्यक्त भावनाएँ मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में सामाजिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों के आधार पर बाह्य परिस्थितियों को प्रभावित करने लगती है। मार्क्स, अरविंद और फ्रायड का अध्ययन तथा प्राणिशास्त्रीय विचारधाराओं का ज्ञान उसके काव्य में परिव्याप्त हो उठता है और वह युग जीवन को सर्वांगीण समझने की चेष्टा करता है। पंतजी यहाँ भारतीय आदर्शवाद के साथ-साथ नवीन सामाजिक यथार्थवाद की ओर आकृष्ट होते हैं। वे प्रस्तुत कृति में वैज्ञानिक युग के जीवन बोध के अतिरिक्त मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण तथा वर्णनामूलक जीवन दर्शन की वृहद् मीमांसा करते हैं। मानव जीवन के प्रति आस्था एवं विश्व के योगक्षेम की मंगलाशा इसी की प्रक्रिया है। यहाँ कवि संतुलन अथवा समन्वय आग्रही है और निरंतर नव-नवीन सामाजिक व्यवस्था का अभिलाषी भी इन धारणाओं के कारण कवि के मानसिक धरातल में मौलिक परिवर्तन हो उठता है और नये विश्वासों का उदय होता है। इन्हीं नवीन आस्थाओं के अनुरूप उसका कला शिल्प भी परिवर्तित हो जाता है। कवि के हृदय में युग-हित के अनुकूल सर्वांग सम्पन्न रस चैतन्य उद्भूत होता है। सौंदर्य प्रेमी कवि गाँवों का दारिद्र्य देखकर क्षुब्ध हो जाता है। वह इस निमम विपन्नता का विस्तृत विश्लेषण करता है। कभी कभी ऊर्ध्वस्वित फुंकार भी छोड़ता है और सौंदर्य पूर्ण कल्पना लोक से उतरकर नग्न वास्तविकता को आत्मसात करता है। लेखक समाजवादी सिद्धान्त और मानव संस्कृति के आधार पर गांधी और मार्क्स का समन्वय करता है। इस स्थिति में वह सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। कालांतर में 'शांति निकेतन' जैसी कला प्राण संस्था के प्रभाव से पुनः युगबोध में प्रवृत्त होता है और उसी योजना प्रस्तावना के अनुसार 'रूपाभ' पत्र का सम्पादन करता है। 'लोकायन' की स्थापना कवि के उसी नव सांस्कृतिक मनोमन्तव्य

---

१ पंत—साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ० ५६

का चरितार्थ करती है। जन-जीवन का युग-युगीन नैराश्य और औदास्य उसकी सक्रियता का कारण बनता है। इसी अन्तर्प्रेरणा के कारण वह रंगलोक से अधिक संयुक्त न होकर पुनः अपने वैचारिक धरातल में प्रत्यागमन करता है।

अपने काव्य सृजन के अन्तिम उन्मेष का हेतु स्पष्ट करता हुआ लेखक तत्कालीन वैचारिक पृष्ठभूमि का यहाँ प्रामाणिक परिचय देता है। इस काल में वह नव मानवता का स्वप्न देखता है। अमरीकी कलाकार ब्रस्टर के सम्पर्क में जो साहित्य-दर्शन एवं कला विषयक चर्चा होती है, उससे पतजी को नयी प्रेरणा और नयी दिशा प्राप्त होती है। इसी पार्श्वभूमि में लेखक अरविंद दर्शन से प्रभावित होता है। उनके कथनानुसार—"सौन्दर्यप्रिय जीवन द्रष्टा मेरे भीतर फिर जगने लगा।"[1] सौन्दर्य द्वारा आत्मोन्नयन तथा लोक-जीवन की प्रगति का वह संकल्प ग्रहण करते हैं। इसके पूर्व पंतजी का कवि मार्क्स के भौतिकवादी लोक-जीवन को अपना ध्येय बना चुका था, पर अब वह अन्तः मानवीय गुणों पर अवलम्बित हो जाते हैं। उनके मतानुसार राजनीतिक आन्दोलनों द्वारा समाज का विकास एकांगी और प्रतिक्रियामूलक होता है। उसमें सर्वांगीण विकास और व्यापक सांस्कृतिक जागरण का भाव नहीं होता। गाँधी और विवेकानन्द के जीवन-आदर्श से पंतजी आध्यात्मिक व्यक्तित्व की कल्पना को अपने काव्य में चरितार्थ करने लगते हैं। कविवर रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति और उन का भू-मानवता का संकल्प पुनः पंतजी के काव्य में उद्‌भासित होता है। इस स्तर पर उनका कवि दर्शन की ऊर्ध्व दृष्टि और नैतिक सदाचारों की सीमा से ऊपर उठकर सहज रस सौन्दर्य की परिष्कृत मांसलता का स्पर्श करता है। उनके शब्दों में—"मेरे कल्पना जगत में सदैव जीवन का इतना स्पन्दन रहा है कि मुझे रिक्तता का अनुभव कभी नहीं निगल सका है।"[2] लेखक की दृष्टि में तत्त्व-चिंतन, भौतिक संघर्ष और जीव-विज्ञान परस्पर अनुस्यूत हैं और संगत भी हैं। इस जीवन दर्शन के सहारे विधान सम्बन्धी उनका ज्ञान विशद हो जाता है—"मेरे मन में मानव-जीवन के भविष्य के सम्बन्ध में एक नई आस्था उत्पन्न हुई, इसी जिज्ञासा और उत्सुकता के योग से दर्शन की पुष्टि होती है। इस चेतनावाद से विचारों में प्रौढ़ता शैली में प्रांजलता और दृष्टि में सांमजस्य आता है। मैंने काव्य चेतना की गहराईयों में डूबकर युग की विचार पद्धतियों के विरोधों को सुलझाने का विनम्र प्रयास किया है।"[3] स्पष्ट है कि लेखक बाह्य परिस्थितियों से पूर्ण तटस्थ होकर भी आन्तरिक प्रभावों से आन्दोलित होता रहा है। उसकी दृढ़ धारणा है कि अरविंद के सम्पर्क से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका'[4] 'कवि बाहर से निस्संग और अपरिचित रहकर भी अपने भीतर

---

१. पंत—साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृ० ६१
२. ,, ,, ,, ,, ६८
३. ,, ,, ,, ,, ६६
४. ,, ,, ,, ,, ७४

सुदृढ़ बन जाता है। इसीलिए निमम परिस्थितियों में वह कुंठाग्रस्त नहीं हो सका। इसी कालान्तर में प्रगति और प्रयोग के विभिन्न शिविरों की साहित्यिक प्रतिद्वंद्विता प्रकट होती है। पंतजी इनमें सम्बद्ध होकर भी साहित्यिक दलबंदी से दूर रहे हैं जिसका पुष्ट प्रमाण आलोच्य कृति में प्राप्त होता है। लेखक के यही आत्म-संस्मरण 'आत्मिका' में भी छंदबद्ध होकर प्रकट हुए हैं।

वस्तुतः वर्तमान युग का यह मूल्यांकन आध्यात्मिक निष्क्रियता का विश्लेषण है।[1] पंतजी की आत्मप्रतीति बड़े स्पष्ट रूप से यहाँ मुखरित हुई है—'मैंने अपना लेखक का जीवन युगानुरूप देखा है। नवीन चेतना के मेघ उमड़ रहे हैं। पहले था प्राप्ति का संघर्ष, फिर संचय करने का, अब अपने मानस संचय को विनम्र अंजलि के रूप में धरती के चरणों पर संजोने का।"[2] लेखक अपने अंतरतम में निरंतर जागरूक रहा है। वास्तव में—"अजेय अपरिमेय अक्षमताओं का नाम ही मनुष्य का व्यक्तित्व है।"[3] मन संस्कारों के आधार पर ही कवि का विकास पथ बनता रहा है। लेखक की घोषणा है कि साहित्यिक जीवन की वास्तविक विकास रेखा यहाँ दिख रही है। इन उक्तियों में कोई अतिरंजना और आत्मश्लाघा नहीं है। कवि का आत्म-निरीक्षण एवं स्व परीक्षण प्रायः विश्वसनीय है। उनकी यह भी आत्मस्वीकृति है कि 'अभी हमारी सृजन चेतना अपने दीर्घकालीन आत्म-दमन की कुंठाओं, पीड़ाओं तथा द्वन्द्वों से मुक्त नहीं हुई है।" कवि पंतजी की शुभाशंसा है कि पूर्वाग्रह रहित, संतुलित, स्निग्ध एवं मुक्त सृजन की प्रेरणा अवश्य ही उपयोगी और शाश्वत होगी।

आलोच्य कृति पंतजी के कवि की साहित्यिक जीवनी है। जो इस ललित विधा के माध्यम से प्रकट हुई है। यह कृति एक मनुष्य के अंतर और बाह्य स्वरूप का कलात्मक निरूपण करती है। यहाँ लेखक अपने साहित्यिक विकास क्रम का आद्योपान्त उल्लेख करता है अस्तु यह आत्मकथा का रूप धारण कर लेती है। आत्मसंस्मरण लेखक के जीवन का एक खण्ड ही प्रकट कर पाता है,। यहाँ जीवन का सांगोपांग स्वरूप नहीं है, अपितु जीवन को नयी दिशा में मोड़ने वाली या औरों को सुनाने वाली घटनाओं का उल्लेख है।[1] यह कार्य प्रस्तुत कृति में भली भाँति सम्पन्न हुआ है। यहाँ घटनाओं का उल्लेख नहीं है बल्कि कवि यथासंदर्भ आत्मसमीक्षा और युग की परीक्षा भी करता है। अपनी कृतियों का विश्लेषण, अपने अन्तर्बाह्य प्रभावों की स्वीकृति, समसामयिक युग की विचार पद्धति और भविष्य के पद चिह्नों की अनुमति इन सारे प्रश्नों पर लेखक की दृष्टि दौड़ी है। निश्चय ही पंत और उनके युग के प्रामाणिक अध्ययन के लिए यह कृति बहुत उपयोगी है। आलोच्य कृति के अतिरिक्त स्फुट निबंधों में पंत के संस्मरण प्राप्त होते हैं। लेखक के अन्य निकट सम्पर्क प्राप्त विभूतियों के

---

१. पंत—साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ० ७४
२ „ „ „ „ ७५
३ डॉ० दशरथ ओझा—समीक्षा शास्त्र, पृ० २०२

जीवन सम्बन्धी इतिवृत्ति भी अनेक दृष्टियों से पठनीय है। गाँधीजी से व्यक्तिगत भेंट करके लेखक सहअस्तित्व, साम्यवाद, समन्वयात्मक सत्य तथा विश्वशांति पर विचार-विमर्श करता है और उनके प्रति आश्वस्त-विश्वस्त होकर उन्हें महान विश्वविभूति स्वीकार करता है। रविबाबू के साथ शांतिनिकेतन में कुछ समय तक रहकर, उनके विशद-गुरुदेव जैसे व्यक्तित्व का साक्षात्कार करके उन्हें पश्चिम के लिए पूर्व का आख्याता तथा पूर्व के लिए पश्चिम का सन्देशवाहक मानता है। रवीन्द्र का आदर्शवाद उस युग की मध्यवर्गीय सीमाओं से किस तरह ग्रस्त रहा है—इसका भी यहाँ लेखक संकेत प्रस्तुत करता है। पंतजी ने अपने 'आत्म' के समक्ष 'पर' के प्रति अधिक जिज्ञासु दृष्टि नहीं डाली है। सम्पर्कप्राप्त, बहुचर्चित व्यक्तित्वों के अतिरिक्त सामान्य कोटि के व्यक्ति उनके संस्मरणों के चरितनायक नहीं बन सके हैं। यहाँ न 'निराला' की-सी प्रायोगिक उत्क्रांति है, जो कुल्ली भाट, चतुरी चमार और बिल्लेसुर बकरिहा आदि की ओर उन्हें प्रेरित करती, और न महादेवी की-सी उदारता है जो समाज के बहिष्कृत पात्रों और अपने पथ के साथियों का रूपांकन करती। पंतजी की दृष्टि सीमित, सयमित और तटस्थ है। यदि सामयिक साहित्यिकों के व्यक्तित्व पर भी वे अपने अभिमत प्रकट करते तो उनकी विवेचना अधिक विश्वस्त तथा मौलिक होती। 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' में उन्होंने यह प्रयास किया है पर वहाँ भी उनका 'आत्म' प्रबल है। उन्हें अपने प्रति अधिक जिज्ञासा है। अस्तु वे हर प्रकार से स्वयं को प्रकाश में लाना चाहते है। 'पानवाला' आदि रेखाचित्रों या कहनियों में स्फुट संस्मरणों की यह कला दिखाई देती है, पर इसे वे निरन्तर अपना विश्वास नही दे सके हैं। पंतजी भावों के धनी और शैली के सिद्धहस्त कलाकार हैं उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण और गम्भीर है, पर अभिजात को त्यागकर दयनीय व्यक्तियों के प्रति वे आत्मिक सहानुभूति नही दिखा सके। उपर्युक्त संस्मरणों में केवल औपचारिकता है और वहाँ भी 'आत्म' अधिक प्रकट हुआ है।

पंतजी के अन्य कतिपय निबन्धों में इसी प्रकार के संस्मरणात्मक उल्लेख प्राप्त होते है, जहाँ लेखक ने अपने सम्बन्ध में इसी प्रकार के आत्मोद्गार प्रकट किए हैं। काव्य कृतियों में वे मुक्त-कण्ठ से अपने काव्य-संस्मरण प्रस्तुत करते हैं। उनके काव्य की मूल प्रेरणा का रहस्य उनकी इन पंक्तियों में प्रकट है—"जिस प्रकार बादलों के अंधकार से सहसा अनेक रंगों के रहस्य भरे इन्द्रधनुष को उदित होते देखकर किशोर मन आनंद-विभोर होकर किलकारी करने लगता है, उसी प्रकार एक दिन कविता के रत्नच्छायामय सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर मेरा मनः कवि विरही यक्ष की तरह कविता-प्रिया की प्रतीक्षा करता है।"[१] हिमालय की सहज आकर्षण-शक्ति उनकी आँखों के सामने दिगन्त व्यापी विचित्र संभ्रम भर देती है और विलक्षण कल्पना के साथ असीम सौन्दर्यबोध युक्त कवित्व अनुप्राणित हो उठता है। इस काव्य-चेतना के सौन्दर्य का प्रस्फुटन उनके हृदय में उल्लास भर देता है।

---

१. पंत—गद्य-पथ, पृ० १६३

लेखक मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्ति का दार्शनिक परीक्षण करता हुआ स्वयं विस्मय प्रकट करता है —"न जाने जंगल में कहाँ किन घाटियों की छायाओं में, किन गाते हुए सोतों के किनारे, तरह-तरह की फैली झाड़ियों की ओट में कुञ्जों के झरोखों से झाँकते हुए ये छोटे बड़े फूल इधर उधर बिखरे पड़े थे, जब कि मनुष्य के कला प्रिय हृदय ने उनके सौन्दर्य को पहचान कर उनका संकलन कर तथा उन्हें मनोहर रंगों की श्रेणी में अनेक प्रकार की क्यारियों तथा आकारों में सजा सँवारकर उन्हें वाटिका अथवा उपवन का रूप दिया और इसी प्रकार अपने उपचेतन के भीतर भावनाओं तथा आकांक्षाओं की गूढ़ तहों में छिपी हुई अपनी जीवन चेतना के आनंद, सौन्दर्य तथा रस को खोजकर उन्हें काव्य के रूप में संचित किया।"[1] इस भावुक अभिव्यक्ति के बाद लेखक शाकुन्तल, रामायण, भागवत, बाइबिल, प्रियप्रवास, जयद्रथ वध आदि रचनाओं का उल्लेख भी करता है, जिनसे उसने कुछ सीखा है, साथ ही प्रसाद, निराला प्रभृति कवियों के स्पर्शजनित प्रभाव का भी उल्लेख करता है। निराला की गीतिका एवं परिमल, प्रसाद की कामायनी एवं अन्य नाटक, महादेवी के मर्म, मधुर एवं बच्चन के छंद से भरे गीतों, नरेन्द्र, अज्ञेय तथा दिनकर की काव्य कृतियों का परिचय देकर पंतजी कहते हैं—"कवि जीवन की अनेक गहरी सांझों को मौन मुखरित कर जीवन विषाद के साक्षी की तरह मन की आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो गए हैं।"[2] कवि अपनी रचना 'चाँदनी' के प्रति मनस्तुष्टि प्रकट करता है। उनके शब्दों में उनकी पहली कविता "'कागज के फूल' और 'तम्बाकू के धुएँ' पर पतझर के फूलों की तरह मर्मर करती हुई कब और कहाँ उड़कर चली गई।"[3] कवि को सन्देह है कि—"अपने कवि जीवन के प्रथम उपाकाल में स्वर्ग की सुन्दरी कविता के प्रति मेरे हृदय में जो अनिर्वचनीय आकर्षण, जो अनुराग तथा उत्साह था उसका थोड़ा-सा भी आभास यहाँ प्रस्तुत नहीं हो सका है। अपनी सर्वप्रथम रचना 'हार' को तारतम्य, संयम तथा कलाविहीन समझकर भी उस वियोगकथा का परिचय देते हुए पंतजी उस पर नीतिकाव्य और तिलक के गीता भाष्य का प्रभाव दिखाते हैं। 'मैंने कविता लिखना कैसे आरंभ किया' उनका इसी प्रकार का रोचक संस्मरण है। कवि प्राकृतिक सम्मोहन के कारण शब्दों के कुंजों में मर्मर कलरव का अंकन कर नयी सम्भावनाओं की ओर अग्रसर होता है। वस्तुतः "साहित्य सृजन कृच्छ्र कर्म है, भीतर ही भीतर कुलमुलाहट मची रहती है।"[4] अब तक कवि 'जो न लिख सका' उसके लिए तैयार हो रहा है। उसका निश्चय है—"मैं उस चिर उपेक्षित लोक जीवन एवं मानव-जीवन का आख्यान भी गा सकूँगा जो इस महान युग के भीषण गर्द गुबार के भीतर

---

१ पंत—गद्य-पथ, पृ० १६३
२ " " " १७१
३ " शिल्प और दर्शन, पृ० २४२
४ " " " २५१

निश्चित, निस्संग तथा प्रशांत भाव से जन्म ले रहा है।"[1] 'लोकायतन' काव्य द्वारा पंतजी ने इसे अंकित करने का प्रयास किया है। 'मेघदूत' को पंतजी अपनी सर्वप्रिय पुस्तक स्वीकार करते हैं, जो मानव प्रेम की संयोग-वियोगभरी करुण-कोमल भावना का मूर्त रूप है।[2] पंतजी ने अपने जीवन के अनुभवों और उपलब्धियों को अंकित करते हुए मानवीय संस्कारों का अनुसंधान करना चाहा है। उनके अन्त: सत्य का यही भाव-बोध है कि "युग की मानव प्रवृत्तियों तथा जीवन-मान्यताओं को पुर्नमूल्यांकन की आवश्यकता है।"[3] प्राकृतिक जीवन के सम्मोहन का एक बार पुन: गुणगान करते हुए कहते हैं—"वहाँ एक सात्विक सौन्दर्य मन को ऊपर उठाता है, निर्मल आह्लादकारक, उन्नयनशील, शब्दहीन मौन नील प्रभाव आत्मिक बल प्रदान करता है।"[4] इन समस्त स्मृतियों को सँजोते हुए भी कवि की सवेदना और उसका अन्तंद्वन्द्व सुसंयत है। 'क्या भूलूं क्या याद करूँ' में इसी भावुक मन:स्थिति का चित्रण है। वास्तव में कवि पंत के ये आत्मसाक्ष्य उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रामाणिक पद-चिन्ह प्रकट करते हैं और कृती को गौरव प्रदान करते हैं। लेखक का शिल्प इस विचार-वस्तु के कारण गम्भीर भी है और सुबोध भी। उसका काव्य इस गद्य में भी जब-तब स्फुटित हो उठता है, जैसे—"कोमल कंठ से बोलने वाली आम्र मंजरियों से सुनहले अंग सवाँरने वाली असीम शोभामयी गाँवों की प्राकृतिक श्री मौन निरभ्र विस्मयभरे नीले आकाश के नीचे अपने मातृ-अंक में युगों के घोर कुरूप जघन्य दारिद्रय को लिए जैसे नतमस्तक बैठी थी।"[5] यहाँ उनके 'भारतमाता ग्रामवासिनी' गीत की मद ध्वनि सुनाई देती है जो रूपकात्मक चित्रण के कारण काव्योपम है। काव्य क्षेत्र के विशद रुपक यहाँ भी दर्शनीय हैं, यथा—"एकान्त नीड़ में छिपकर इस युग में मैंने भारतीय संस्कृति में प्रविष्ट अनेकांत विचार-सरणियों का भी गंभीर मनन किया और मानव-चेतना के नवीन विकास की दिशा का आभास भी मेरे मन को इसी दिशा में मिला।"[6] लेखक की भाषा दीर्घ पदावली और समस्त-शब्दों के वक्र प्रयोगों से अलंकृत है "वहाँ के वातावरण में बीसवीं सदी के महत्तम जीवन प्रकाश की संवेदना तथा प्रसव-वेदना से गुंजरित अंधकार-प्रकाश के संघर्ष की प्रेरणाप्रद सक्रिय चापों की ही प्रतिध्वनि सुनाई दी।"[7] अथवा 'स्नेह का शुभ स्फुटिक गवाक्ष, विरस एकरूपता भंग'[8] आदि इस प्रकार के

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० २५४
२. " " " २९५
३. " " " ३१५
४. " " " ३६८
५. " साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृ० ५२
६. " " " ५४
७. " " " ५१
८. " " " ५४

प्रयोग हैं जो यथास्थल उद्धरणीय हैं। लेखक की यही कलात्मक परिपूर्णता शिल्प के साथ-साथ कथ्य में भी सहायक हुई है।

पंतजी के संस्मरण अपने में पूर्ण और प्रामाणिक हैं। कवि के ये विचारसूत्र उसके काव्य-तन्तुओं को सुग्रथित कर सकने में सक्षम हैं। आधुनिक विचारणा और विकासात्मक अध्ययन की दिशा में पंतजी का यह अंतस्साक्ष्य परमोपयोगी है। पंतजी का यह प्रयास उनके काव्यास्वाद के लिए और भी महत्वपूर्ण है। लेखक ने भ्रांत धारणाओं को अवकाश न देकर प्रायः अपने उदार दृष्टिकोण का और इन आत्म-कथनों द्वारा अपने अंतर-रहस्यों को प्रस्तुत किया है। आत्मश्लाघा और अन्यथा अपग्रहण से प्रायः पृथक् रहकर तथ्य और तत्व का सर्वांगीण विश्लेषण करना लेखक की विशिष्टता मानी जाती है। इस दृष्टि से कुछ कुछ प्रमादग्रस्त होते हुए भी पंतजी के ये आत्मसंस्मरण महार्घ हैं।
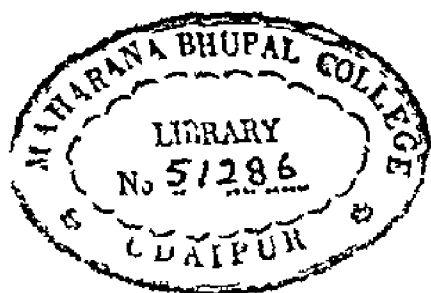
पंतजी का निबंध-साहित्य

हिन्दी निवंध के क्षेत्र में पंतजी का योगदान अपने विशिष्ट ढंग का है। वैचारिक एवं ललित निबंधों के लेखन मे उनकी अच्छी गति है। इसके प्रति पंतजी के मन में तीव्र आग्रह है। वे सदैव अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके युगमानस के वातायन से विश्व-जीवन को परखने और निरखने का प्रयत्न करते रहे है। आलोच्य निबंधों में लेखक अपने जीवन के एकांत क्षणों का स्मरण कराता है और अन्तर्मुखी दृष्टि से आत्म-विश्लेषण करता है। पतजी अपने सम्बन्ध में अत्यधिक प्रगल्भ हैं। आत्मविवेचन की स्थिति में वे तटस्थ दृष्टि से स्वय को तोलने का प्रयत्न करते है और फिर उसे निस्संकोच रूप से प्रकट कर देते हैं। उन के आत्म-चिंतन विषयक निबंध अलोचना-साहित्य के सन्दर्भ में विचारणीय हैं क्योंकि लेखक के सैद्धान्तिक निष्कर्ष, उसकी अनेक काव्य मान्यताएँ और शास्त्रीय अभिमत आलोचनात्मक क्षेत्र मे ही उपलब्ध है। अपने स्फुट निबंधों में पंतजी ने 'आत्म' से परे 'अन्य' पर भी विचार-विमर्श किया है। इन स्थलों पर वे समसामयिक स्थितियो, युग के पोषक विश्वासों और दृढ़ सांस्कृतिक धारणाओं का परिचय देते हैं। पंतजी के कृतित्व के विकासक्रम और व्यक्तित्व के परिचय में इन निवन्धो की उपयोगिता निर्विवाद रूप से प्रमाणित है। पंतजी के निवन्ध 'गद्यपथ' तथा 'शिल्प और दर्शन' कृतियो में संकलित है। इसके अतिरिक्त आकाशवाणी से प्रसारित और समय-समय पर प्रकाशित उनके अन्य स्फुट निवन्ध भी प्रयोजनीय है। स्वयं लेखक के ही शब्दों में—'गद्यपथ मेरे निवन्धो का संग्रह है।'[1] इसके द्वितीय खण्ड में लेखक ने काव्य कला तथा भाषा विषयक समस्याओं पर विचार प्रस्तुत करते हुए अन्य विविध सैद्धान्तिक विषयों को भी उठाया है, जिनका आलोचना-साहित्य के अन्तर्गत उल्लेख करना अधिक उपयोगी होगा।

सांस्कृतिक चेतना और नवयुग की विशद विचारणा की दृष्टि से पंतजी का जीवन दर्शन अत्यन्त समृद्ध है। अपने निवन्ध-साहित्य में उन्होने सांस्कृतिक समस्या के प्रत्येक पक्ष पर भरसक प्रकाश डाला है और इस प्रकार अपनी साहित्यिक प्रगति को चरम सीमा की ओर संचरित किया है। आज साहित्य, कला और संस्कृति की गतिविधि बाह्य जीवन के संघर्षमूलक वातावरण में मंद होती जा रही है; अस्तु अन्त-श्चेतना के पुनर्गठन के लिए नव संस्कृति की नयी मान्यताएँ पालनीय हो गई हैं। आज के सांस्कृतिक समायोजन "पिछली सन्ध्याओं के पलनों में झूलती हुई अनेक दिशाओं

---

१. पंत—गद्यपथ, पृ० १

मे अनेक प्रभाता की नवीन सुनहली परछाइयों में जन्म ग्रहण करने का तुच्छ प्रयास कर रहे हैं।'[१] आज का मानसिक विप्लव पिछले युगों की चेतना को निस्पंद करता जा रहा है। लेखक आज की इन अतिवादी तथा कट्टरपंथी संकीर्णताओं से बहिर्गत हो कर समन्वय का पथ ग्रहण करना चाहता है, जिससे जीवन में अनिर्वोद्धिकता का आतंक न रह जाए। पंतजी—"साहित्यकारों की सृजन चेतना के लिए उपयुक्त परिवेश के नव-निर्माण के अभिलाषी हैं, ताकि वह नवसर्जना सामाजिकता के निर्मम, कुरूप अंश पर अपने पदचिह्नों का सौंदर्य भी अंकित कर सके।"[२] मानवीय संवेदना की सशक्त अभिव्यक्ति ही सतत जागरूकता और अदम्य उत्साह के साथ सच्ची लोक चेतना का निर्माण करती है और उससे ही नवीन मनुष्यत्व का नया सौंदर्य निखार पाता है। लेखक अंत में यह घोषणा करता है कि हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है। "एक महान् अंतर्मुक संगीत के असंख्य स्वरों की तरह आज हम समस्त साहित्यकारों का ध्येय मुक्त समवेत् आदान प्रदान होना चाहिये।'[३] लेखक मंगलाशा प्रकट करता हुआ अंत में साहित्य का समस्त मानवता के अंतरतम के सम्मिलन का सृजन-तीर्थ सिद्ध करता है। युगीन समस्याओं के समाधान में सांस्कृतिक आंदोलन ही प्राय सहायक होते हैं अतः साहित्य संचरण तथा सृजन में ही नव निर्माण अधिक सम्भव है। साहित्यिक आंदोलन उग्र विद्रोहों, बौद्धिक संघर्षों एवं तार्किक दाँव-पेंचों से भिन्न हुआ करते हैं। साहित्य में अन्तर्मन के सहजबोध और मानवीय अन्तश्चेतना की गंभीरतम अनुभूतियाँ अपने आदर्श रूप में निरूपित होती हैं। संस्कृतिपरक दृष्टि मनुष्य को स्रष्टा और आत्म द्रष्टा बनाती है, जिससे मन का कुहासा छिन्न-भिन्न होकर सचेतन व्यक्तित्व को सक्रिय कर देता है। लेखक विश्व की सभ्यता का सांकेतिक विकास प्रस्तुत करता हुआ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शक्ति का अनुमान लगाता है और पुनः मनुष्य की चेतन सत्ता, मन और पदार्थ के स्तरों का नवीन विश्व की परिस्थितियों के अनुकूल रूप-समन्वय, संतुलन तथा सांस्कृतिक संचरण स्थापित करने के हेतु अंतःबाह्य क्रियाओं का समावेश करता है। सामाजिक सिद्धान्तों तथा वैयक्तिक जीवन की मान्यताओं के प्रति लेखक ने यहाँ व्यापक और गम्भीर ऊर्ध्व प्रेक्षण किया है।

भारतीय संस्कृति के प्रति पंतजी ने स्वतंत्र रूप से अपनी मौलिक धारणाएँ व्यक्त की हैं। विश्ववादी भावना के सहज मूल्य तथा व्यापक उपादान भारतीयता में किस प्रकार विद्यमान हैं इसका लेखक ने सूक्ष्म विश्लेषण किया है। पंतजी के मतानुसार पाश्चात्य विचारधारा के संस्पर्श से भारतीयों की भावना आहत, विवेक कुंठित और उनका दृष्टिकोण दिग्भ्रमित हो रहा है। राजनीतिक पराधीनता के कारण उनमें वैचारिक क्षीणता, असंगठन और आत्म पराजय के भाव प्रविष्ट हुए हैं। मध्य युग के पर-

---

१ पंत—गद्यपथ, पृ० १६६
२ " " " १६८
३ " " "

लोकवादी भाव, वैयक्तिक विवृत्तिमूलक धारणाएँ एवं लोक-परिग्रह के विश्वास इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। पाश्चात्य जीवन दर्शन "मन की अन्तरतम गुहा में प्रवेश करना अथवा आत्मा के सूक्ष्म रुपहले आकाश में उड़ना"[1] अंगीकार नहीं करता। वहाँ सामाजिक अथवा लौकिक उपयोगिता का तर्क-बुद्धि से मूल्यांकन किया जाता है। इसके विपरीत भारतीयता सूक्ष्म रहस्यात्मक तत्वों से युक्त अनेक ऐहिक प्रयोगों, धार्मिक प्रतीकों और जीवनोपयोगी नियमों का संयोजन करती है। धर्मानुराग वस्तुतः व्यक्ति और समाज की कल्याण-कामना का प्रतीक है। यही जीवन की नैतिकता है। भारतीय संस्कृति ने जिन उदात्त आदर्शो का पोषण किया है और उसने मनस्तत्व का जो आध्यात्मिक आरोहण किया है, उससे सदैव सौन्दर्य एवं माधुर्य का आनन्द स्फुरित हुआ है। लेखक के निष्कर्षो के अनुसार भारतीय संस्कृति जहाँ व्यक्तिवादी है, वहीं लोकोत्तर व्यक्तित्व की विश्वासी भी। उसकी रूपरेखाएँ जहाँ 'ईश्वर' तक प्रयाण करती हैं वही सामाजिक महत्व भी प्रकट करती हैं। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था वस्तुतः इसी स्थिति को प्रकट करती है। वह अन्तर्जगत की उपलब्धि कराती है, जो उसकी सबसे बड़ी वैज्ञानिक सिद्धि है। लेखक पूर्व और पश्चिम के स्वरैक्य या भावैक्य के प्रति आशान्वित है। उसको विश्वास है कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे की ओर बाँहें बढ़ा कर एक नवीन मानवता के वृत्त में बँधने जा रहे है।[2] उसके मतानुसार "अध्यात्म्य और भौतिकत्व दोनों परस्पर सम्पृक्त हैं। पश्चिमी जगत जहाँ सक्रिय और संघर्षप्रिय है, वही पूर्वी जगत अन्तश्चेतन, प्रशांत और अल्पक्रियाशील है। भारत इन दोनों को आत्मसात् कर अथवा अतिक्रम कर इनसे कही अधिक महत्, मोहक और मानवीय बनेगा तथा अपनी पूर्णकाम लौकिकता में अलौकिक भी।"[3] इस समन्वय से ही सुसम्पन्न मनुष्यता का विकास सम्भाव्य है।

भाषा और संस्कृति को पंतजी ने युग-सापेक्ष्य दृष्टि से देखा है। भाषा मानवीय हृदय की सहज वृत्ति है और संस्कृति जीवन का स्वभावज सत्य। यदि एकता राष्ट्रीय जीवन की शक्ति है तो भाषा उस भावात्मक एकता का माध्यम है। राष्ट्रभाषा से किसी भी प्रान्तीय भाषा को क्षति होनी असम्भव है। आज के भाषा-विवाद के पीछे साम्प्रदायिकता तथा दूषित राजनीति का स्वर है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण की वाहक राष्ट्रभाषा ही उसके उपादानों को मुखर करती है। इसी विचारक्रम में लेखक ने संस्कृत, फारसी, उर्दू और मध्यवर्ती बोलियों के रूप वैभिन्न्य, देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता तथा हिन्दी व्याकरण की सुबोधता पर प्रकाश डाला है। पंतजी के विचारानुसार भाषा में समयानुकूल परिवर्तन सहज सम्भाव्य है। भाषा का सूक्ष्म जीवन लोक-रुचि में ही सुरक्षित रहता है। लेखक भाषा-आन्दोलन के बाह्य प्रयत्नों का विरोध करता हुआ

---

१. पंतजी—गद्यपथ, पृ० १८४
२. " " " १८६
३. " " " १८७

केवल ध्वनि सौन्दर्य और रुचि-सौष्ठव पर ही बल देता है। भविष्य के प्रति पतजी का अनुमान आशापूर्ण है, किन्तु उनका यह भी मत है कि सचेष्ट प्रयत्नो के अलावा भाषा का अपना भी जीवन होता है और आनेवाली पीढ़ियाँ नवीन विकसित परिस्थितियों के आलोक मे भाषा को किस प्रकार सँवारेंगी, यह कभी किसी गणित के नियम से नहीं बतलाया जा सकता।[1] पतजी की धारणा साहित्य और सस्कृति के प्रति बडी व्यापक है। वस्तुत जीवन का सत्य है—साहित्य का मर्म। भावना की सजीव सवेदना ही मानव-जीवन का सनातन सत्य है। जीवन को रस द्वारा सजीवनी शक्ति उपलब्ध होती है। यह सृजनात्मक चेतना, पतजी के मतानुसार केवल साहित्य मे ही सुरक्षित रहती है। इन्ही साहित्यिक अन्तर्विश्वासो मे जीवन का उन्नयन सम्भव है। सौन्दर्य बोध मुख्यत सास्कृतिक जागरूकता उत्पन्न करता है। कल्पना के आधार पर ही चित्र मे श्रेयस्कर चेतना आती है। अस्तु लेखक के विचारानुसार—"अपने युग की चेतना के शिखर पर खडा होकर पिछले युगो की ऊँची नीची सलहटियो तथा सकीर्ण अँधेरी घाटियो पर दृष्टिपात करना चाहिए तथा उनके अनेक छायाओ से भरे हुए सौन्दर्य का परीक्षण कर भावनाओ तथा विचारो के ऋजु कुचित नद निर्झरो का कलरव श्रवण कर उनके तरह-तरह के राग-विराग की सवेदनाओ से उच्छ्वसित वातावरण की साँसो को हृदय मे भरकर मानव सभ्यता के सघर्ष मुकुल विकास का मानचित्र बनाना चाहिए।"[2]

साहित्य, भाषा और दर्शन को सस्कृति मे समन्वित करते हुए पतजी ने कला से उसका युगपत् सम्बन्ध निर्धारित किया है कवि हृदय के स्पदन मे सुसस्कृत भावनाओ का सगीत गुजरित होता रहता है। कला प्राणशक्ति का प्रसार करती है और आत्मप्रबुद्धि की ओर अग्रसर होती है। कला मे उदात्त सौन्दर्य-बोध, व्यापक तथा गभीर रसानुभूति और जीवन का उपयोगी सत्य निहित रहता है। सौन्दर्य दर्शन जीवन-रहस्य के ऊर्ध्व शरो का सन्देश देता है। अस्तु पतजी की उक्ति है कि "अपनी लेखनी और तूली द्वारा युग के इन स्वप्नो मे रक्त मास के सौन्दर्य तथा अपनी व्यापक अनुभूति से जीवन फूँक सकें तो आप अपने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य को उसी तरह निभायेंगे।"[3] सौन्दर्य स्रष्टा का भावना का हृदय चैतन्य स्वर्गीय आलोक प्रदान करता है ऐसा लेखक का अक्षुण्ण विश्वास है और इसी आधार पर वह अपनी आत्मभावना ज्ञापित करता है ताकि आप अजलि भरकर सस्कृति के स्वर्णिम पावक कण जन समाज मे वितरण कर सकें।[4]

आलोच्य निबन्धो मे पतजी ने आत्म-विषयक चिन्तन को बडी गम्भीरता के साथ उपस्थापित किया है। शास्त्र तथा समीक्षा के इन प्रतिमानो के अतिरिक्त अपने

---

१ पतजी—गद्यपथ, पृ० १६१
२ " " " २०७
३ " " " २०४
४ " " "

दृष्टिकोण का प्रामाणिक परिचय भी पंतजी ने यहाँ प्रस्तुत किया है। लेखक अपने सौन्दर्याभिभूत आकर्षण का रहस्य प्रकृति पर आरोपित करता है। पंतजी प्रकृति की गोद में पले हैं और इसलिए वे सदैव नवीन स्वप्नों से आकृष्ट होते रहे हैं। अपने काव्य-संचरण द्वारा आदर्श और यथार्थ की समस्त स्थितियों से समझौता करते हुए वे अन्तर्जीवी प्रवृत्तियों का परिचय देते है। वर्तमान युग यथार्थमूलक होता जा रहा है, फिर भी आदर्श का दर्पण आज भी मनुष्य के भीतरी मन को प्रतिबिम्बित कर देता है। पंतजी ने मानव जीवन को भागवत करुणा का वरदान स्वीकार किया है, जिसे अखण्डनीय एकता और सात्विकता सदैव बनाए रखना चाहिए। मानव मात्र द्रष्टा है, न कि चिन्तक। वह तटस्थ वृत्ति से प्रकृति की भृत्यता स्वीकार करता है। स्वामीत्व की भावना केवल उसका दम्भ है। इन उक्तियों में पंतजी की सांस्कृतिक निष्ठा और सैद्धान्तिक मनीषा की प्रतिध्वनि स्पष्ट है। साहित्यिक व्यक्तित्व को उन्होने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा-परखा है। यथार्थ की भावभूमि पर रहकर भी लेखक कवि के स्वप्नों का समादर करता है। पंतजी का पूर्व कवि वस्तुत. एक स्वप्नजीवी कलाकार रहा है। प्रकृति की सौन्दर्य-रहस्यकारी कथा में वे मनुष्य का अकथित इतिहास पाते हैं। धरती पर आज के मनुष्य की वीभत्स वासनाएँ कवि को अपने कल्मष में आत्मसात करना चाहती हैं। पतजी के शब्दों में आज 'मनुष्य के मन पर जमे हुए कठोर-कुरूप अन्धकार के वज्र-कपाट पर अपने प्रकाश-पुज शब्दों की अविराम मुट्ठियों का प्रहार'[1] आवश्यक है। इस सर्वसंहार से निराश होकर पलायन करना अनर्थकर है। अस्तु लेखक के मतानुसार आज मानव-चेतना के उँचे शिखरों पर विचरण करना ही हितेय है। कल्पना के पंखों पर उड़ान भरकर ही कवि धरती के इस कुहासे से ऊपर पहुँचेगा। कवि की वाणी में निस्सन्देह ईश्वरीय संगीत[2] और देवी प्रकाश रहता है। लेखक की कामना है कि "कवि के अग्नि-पंख सुनहले स्वप्न के बीजों को मानस-भूमि में बो कर नव-मानवता की व्यापक मनुष्यत्व की हँसमुख जीवन-फसल उपजाएँ।"[3] लेखक साहित्यकार के स्वरों में कोई अलक्ष्य अक्षय शक्ति विद्यमान देखता है। कवि सदैव चेतना का पुनर्जागरण करता रहा है। शास्त्रीयता से परे भी कवि सामाजिक आदर्श का आकलन कर सकता है और अपने अन्तश्चैतन्य द्वारा युग-जीवन को मंगलमय उन्नयन के लिए प्रेरित करता है। आज यही कवि विश्वजीवन का तथा भविष्य के अन्तरिक्ष की मुस्कराती हुई नवीन मानवता का विनम्र प्रतिनिधि, सौम्य सन्देशवाहक एवं दूत भर रह गया है।[4] लेखक साहित्यकार की आस्था में हृदय की गहराई, भावना की तीव्रता और अनुभूति की गहनता पाता है, जो अपने सभी आयामों में महत् है और जिसमें सामजस्य का सत्य-विकास अवश्यम्भावी

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० २४४
२. „ „ „ २४५
३. „ „ „ २४५
४. „ „ „ २६६

रहता है अतः अंत में पंतजी की अविचल धारणा है कि "मैंने वैयक्तिक तथा सामाजिक आस्थाओं से मानवीय आस्था का समन्वय एवं संयोजन करना साहित्यकार की दृष्टि से अपना कर्त्तव्य समझा है।"[1] साहित्य के इन सैद्धांतिक प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए पंतजी ने लेखक की राज्याश्रय सम्बन्धी समस्या को उठाई है और यह स्वीकार किया है कि आज के लेखक से जनता का प्रत्यक्ष हित नहीं हो रहा है। यह उसकी निस्स्वत्व कला है, अतः राष्ट्रीय जीवन की सुनिश्चित दिशा आवश्यक है और इसके लिए नियामक राज्यसत्ता तथा पर्याप्त स्वातंत्र्य अपेक्षित है। ये पंतजी की वैयक्तिक धारणाएँ हैं जिनमें उनकी अनुभूति का भी बल है।

साहित्येतर अन्य विविध वैचारिक समस्याओं पर पंतजी की चिंतनशीलता प्रस्फुटित हुई है। उनका जीवन-दर्शन अत्यंत अगाध है। जीवन को वे अपराजेय और अपरिमेय सत्य-शक्ति मानते हैं। उनके मतानुसार मानवीय तादात्म्य सामाजिकता से विज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक है यद्यपि वर्तमान स्थिति इसके प्रतिकूल होती जा रही है, फिर भी लेखक की यह दृढ़ आत्मप्रतीति है कि "जीवनी शक्ति के पास अलौकिक चैतन्य के आलोक से परिपूर्ण महत् हृदय भी है।"[2] इन वैचारिक निबंधों में लेखक की वैचारिकता और चिंतनशीलता द्रष्टव्य है। पंतजी संतुलन के प्रश्न को इसीलिए अधिक प्रश्रय देते हैं, जिससे अतिवादी धारणा स्थिर न होने पावे। पश्चिम एवं पूर्व के सम्यक् संगठन के लिए लेखक अत्यधिक सजग है। आज मार्क्स तथा फ्रायड सामाजिक आर्थिक तथा लैंगिक पहलू को प्रभावित करते जा रहे हैं। इनके सम्यक् संतुलन के लिए धनात्मक और प्रेरित यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास करना ही सर्वोपयोगी सिद्ध होगा।[3] इस प्रकार के निबंध लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने और लोकोपयोगी व्यावहारिक तथा सार्वजनीन सिद्धांतों के निर्माण करने के लिए बहुत उपादेय हैं। यहाँ चिंतनशील लेखक के प्रत्यक्ष तथा अनुभूत सत्य का वह अंश है जो सर्वाधिक प्रायोगिक तथा सर्वथा सम्यक् है।

भाषा के विवाद को पंतजी ने उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा है, अपितु उसकी समस्या पर गंभीर विचार विमर्श प्रस्तुत किया है। 'हिंदी का भविष्य' इस दृष्टि से ध्यातव्य विषय है। हिंदी भाषा को परित्यक्त और हीन मानने की मनोवृत्ति, उनके विचारानुसार, पराधीनता के कारण उद्भूत हुई है। पंतजी ध्वनि संगीत की दृष्टि से हिंदीकरण करने के समर्थक हैं और नए पारिभाषिक शब्दों की सृष्टि के लिए भी सिद्धांततः सहमत हैं। अपनी भाषा द्वारा ही नयी वैज्ञानिक चेतना तथा विश्व संस्कृति की कल्पना संभव है। अस्तु, भाषा का प्रश्न एक अंतरप्रादेशिक समस्या है। इसके लिए लेखक धैर्य का परामर्श देता है। भाषा के प्रति हठ धर्म त्याज्य है। आवश्यकतानुसार

---

१ पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० २६२
२ ,, ,, ,, २८८
३ ,, ,, ,, ३२४

व्याकरण तथा लिपि परिमार्जनीय होती है। सत्संकल्प द्वारा भाषा विषयक विषमताओं का सांमजस्य किया जा सकता है। वस्तुतः 'राष्ट्र भाषा राष्ट्र मानस ही है।"[1] लेखक के मतानुसार उसका स्वरूप बड़ा विराट है 'जिसमें करोड़ो कंठ धरती पर आसमान कह उठे, असंख्य आँखें जिसके दर्पण में फूल का मुख चाँदनी की स्वच्छन्दता तथा ऊषाओं-सन्ध्याओं का सौन्दर्य पहचान सकें, सहस्त्रो हृदय जिसकी झंकारों से गीतों-छन्दों से मुखरित हो उठें।"[2] इस समाधान में किसी प्रकार के उच्छृंखल प्रोपेगण्डा का उग्र स्वर नहीं है वल्कि वर्त्तमान तथा भविष्य के व्यावहारिक विचार-सूत्र हैं।

साहित्यिक विषयों के विचार-विश्लेषण क्रम में पंतजी ने कुछ सीमाएँ निर्धारित की हैं पर उनकी भावुकता के विचरण की परिधि आदिगन्त व्यापी है। उनका पूर्व तथा उत्तर काव्य वस्तुतः शृंगार तथा अध्यात्म में परिव्याप्त है। इन दोनों काव्य-कोटियों में वे जीवन की विविधता और विशदता पाते हैं। उनके शब्दों में—"शृंगार का सन्तुलन और उन्नयन ही आध्यात्म्य है।"[3] इस उक्ति द्वारा वे दोनों का सापेक्ष्य सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। कृष्ण-काव्य परम्परा में इसे घटित करके लेखक अपने काव्य की पुष्टि करता है। उपर्युक्त दोनों विषय वस्तुतः राग-भावना के दो अविभाज्य छोर है। उसका प्रस्फुटन लोकमगल तथा सौन्दर्यानन्द का हेतु है। पंतजी की राष्ट्रीय भावना अपने में असन्दिग्ध है। लेखक अपने सपनो तथा अपनी मनोकामनाओं के भारत को अध्यात्म में पुनः प्रविष्ट देखना चाहता है और स्वस्थ सामंजस्य स्थापित करना चाहता है क्योंकि अध्यात्म भाव जीवन का पूर्ण दर्शन है, उसमें मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान मिलता है।[4] इस प्रकार वैयक्तिक, राष्ट्रीय और विश्व-कल्याण विषयक समस्त सुभेषणाएँ पंतजी के निवन्ध साहित्य में प्रतिध्वनित होती हैं। कवि का आत्म अत्यधिक जागरूक है। वह बड़ी सच्चाई से अपनी रचना-प्रक्रिया के उन आत्मीय क्षणों को ग्रहण कर लेता है जो उसके साहित्यिक जीवन की गति तथा दिशा निर्धारित करते हैं। पंतजी की भावुक मनः स्थिति अपने अन्तरतम के समस्त अनुभवों, अपनी स्मृति तथा विस्मृति के सारे उपकरणों और उन समस्त गोपन मनोरहस्यों को जिन्हें लेखक अक्षर-वद्ध नहीं कर सका है अपने शब्द व्यापार द्वारा प्रकट कर देना चाहती है। लेखक का आत्मसाक्ष्य यद्यपि यहाँ अपनी अति पर है फिर भी व्यक्तित्व तथा कृत्तित्व के सम्यक् परीक्षण के लिए यह अपरिहार्य है।

लेखक ने आत्म से परे अन्य भारतीय विभूतियों का भी मूल्यांकन किया है। 'कालिदास से भेंट' नामक निवन्ध में वह कला की महत्ता का उन्मुक्त गायन करता है। उसके शब्द हैं—"कविता अपनी अबाधता से संचलित है, उसे आलोचक नहीं

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० २०५
२. " " " ३०६
३. " " " २७३
४. " " " ४१३

निर्धारित करना।" काव्य लोक एक ही है, जिसे सत्य श्री-सुन्दर का लोक कहते हैं, जिसकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं। युग की संवेदनाएँ कला में अपना विशेष स्थान तथा महत्त्व रखती हैं।[1] पतजी के ये साहित्यशास्त्रीय निष्कर्ष बड़े स्वस्थ तथा समृद्ध हैं। रवीन्द्र के दिव्य व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा व्यक्त करके लेखक महर्षि अरविंद का भी स्तवन करता है—"विश्व के आध्यात्मिक क्षितिज पर उनका शुभागमन एक अभूत-पूर्व अलौकिक स्वर्णोदय के समान है।[2] वे मर्त्यों की इस धरती पर एक अपूर्ण ज्योति-द्रष्टा तथा मानव भविष्य के दार्शनिक थे।" इन पंक्तियों में व्यक्त लेखक की निष्ठा यह सिद्ध करती है कि अरविंद दर्शन का पन्त के अन्तश्चेतनावादी (उत्तर) काव्य पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है। वे व्यक्तिगत रूप में भी महर्षि अरविंद के प्रति बहुत अभिभूत हैं। अपने अनेक अभिभाषणों में भी पन्तजी साहित्यिक तत्त्वों के सम्यक् ग्रहण, सद्-अस्तित्व के संस्थापन, मानस क्षितिज के नवीन जागरण तथा नवीन जीवन-निर्माण के स्वप्नोदय सम्बन्धी प्रश्न पर विचार विमर्श करते हुए राजर्षि टण्डन का अभिनन्दन करते हैं। पतजी के कथनानुसार राजर्षि टण्डन के व्यक्तित्व में "भाषा के वृन्त पर प्रस्फुटित एवं विकसित राष्ट्र मानस के शतदल का सौन्दर्य वैभव भरा हुआ है।"[3]

आलोच्य निबन्धों में पतजी ने विविध विषयों के अनुकूल अनेक शैलियाँ अपनाई हैं। उनके विवेचनात्मक निबन्धों में प्रायः विचारात्मक, विश्लेषणात्मक तथा निर्णया-त्मक शैली व्यवहृत हुई है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' निबन्ध में कुछ कुछ भावात्मकता का भी पुट है, साथ ही संस्मरणात्मक कला का भी। इन निबन्धों की भाषा में कवित्व कल्पना, रूपकात्मकता और रहस्य-सौन्दर्य का भी आभास मिलता है, यथा – "दुलार भरी पवन गन्धसनी चीड़ की सुइयों की अलक्ष्य आवाज में गाती हुई ठण्डी पहाड़ी वायु मेरी दुखती रगों में तप्त शिराओं में प्रवेश कर जैसे लोरियाँ भरी थपकी देकर जैसे मुझे सुला देना चाहती है।"[4] 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में लेखक अतिशय भावुकता तथा आवेश के साथ अपने कैशोर, एवं युवा मस्तिष्क के विस्मृत रहस्यों को बटोरकर सहसा फूट पड़ा है। जैसे—"अपनी छोटी-सी डोंगी किनारे पर ही छोड़कर मैं युग-जीवन की उत्ताल तरंगों से संघर्ष करते और उनके थपेड़े सहकर उन्हें चीरते और आगे बढ़ते हुए मानवता के विशाल यान में कूद पड़ा और निखिल-जीवन के हर्ष, विषाद, आशा-निराशा भरे महान उत्थान पतन की चोट में अपने व्यक्तिगत तुच्छ सुख दुःख, सफलता-असफलता तथा यश-अपयश की बात भूल गया।"[5] कवि का यह अन्तरंग आत्म-साक्ष्य भाषा सौष्ठव का विधायक है। इसी प्रकार की रूपकात्मक भाषा का छुट पुट संकेत

---

१ पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० ३२६
२ " " " ३५६
३ " " " ३३१
४ " " " ३७०
५ " " " ३७२

उनकी प्रत्येक रचना में प्राप्त हो सकता है। पंतजी शब्दों के सफल शिल्पी हैं। अपने कथ्य द्वारा वे शिल्प में भी रूपकात्मकता, आलंकारिकता, सरसता, भाव विदग्धता, प्रवहमयता और उक्ति-वैचित्र्य का पर्याप्त समावेश कर देते है। उदाहरणार्थ एक रूपक द्रष्टव्य है—"कुहासा छट जाता है, खड़ी बोली निर्भीक रूप से आगे कदम बढ़ाने लगती है। उसकी गति में एक नपा-तुला सौन्दर्य अंगों में कटा-छटा सौष्ठव आ जाता है। अनेक गुणी गुंजार करने लगते है। आम्र की सद्य: मंजरित डाली से कोकिल माधुर्य की सी वृष्टि करने लगते हैं और कहीं नवीन प्रयत्नों की वाटिकाओं में नवीन जागरण का स्पष्ट गुंजरण सुनाई पड़ता है।"[1] इस प्रकार की रूपक-योजना में उनके कवित्व की गहरी छाप है। यहाँ 'सुन पडता फिर स्वर्ण गुंजरण' गीत की पंक्ति में वही भाव ध्वनित हो रहा है। पंतजी की भाषा-शैली में सुघरता, स्वच्छता है और विषय में रसात्मकता तथा प्रेषणीयता। पंतजी की रेडियो वार्त्ताएँ और भी विचारोत्तेजक हैं। स्वयं के प्रति उनकी दृष्टि कितनी उन्मुक्त है, यह विभिन्न सन्दर्भ में, विविध विषयों पर चिन्तनपूर्ण निष्कर्ष और आत्म-मनन सम्बन्धी तात्विक निर्णय प्रस्तुत करते हुए प्रकट होता है। लेखक की अध्ययन-प्रवणता इन निबन्धों में गौण है और अनुभूति अधिक सशक्त है। पंतजी ने एक तटस्थ दार्शनिक की दृष्टि से अपना जीवन-दर्शन, भौतिक विश्व का अपेक्षित अध्यात्म और भावी संस्कृति का प्रामाणिक स्वरूप यहाँ व्यक्त किया है। निबन्ध कला की कलात्मकता तो यहाँ है ही, साथ ही उनका प्रतिपाद्य विषय भी अत्यन्त उपयोगी और प्रामाणिक बन गया है। आत्मसंस्पर्श के साथ-साथ लेखक ने अन्य अनेक विभूतियों का भी मूल्यांकन किया है और भाषा-साहित्य, सौन्दर्य-बोध, समाज, धर्म, भौतिकता, अध्यात्म, राष्ट्रीय संस्कृति, पाश्चात्य सभ्यता तथा नव-मानवतावादी संकल्प पर तात्विक अभिमत प्रकट किया है। उपर्युक्त समस्याएँ तथा समाधान अत्यन्त विचारोत्प्रेरक है, और वस्तु तथा रचना-विधान दोनों दृष्टियों से उपयोगी हैं।

---

१. पंतजी—शिल्प और दर्शन, पृ० २०५

पंतजी का आलोचना-साहित्य

पंतजी का आत्म-प्रबुद्ध कवि आधुनिक कवियों में सर्वाधिक जागरूक है। उनके आलोचक व्यक्तित्व का निर्माण मानसिक चेतना के ऊर्ध्व स्तर पर हुआ है। गम्भीर चिन्तन और आत्म विश्लेषण के आधार पर उन्होंने युग के विशेष सन्दर्भ में अपने प्रेरक तत्वों को पहचाना है और उस समग्र परिवेश का मूल्यांकन किया है जिसने उनकी काव्यधारा को नई गति एवं नई दिशा दी है। पंतजी का समीक्षक उस प्रत्येक क्षण को बड़ी सतर्कता के साथ पकड़ना चाहता है जो क्षण उनके भावबोध का निर्धारण कर सका है।

आलोचना के क्षेत्र में पंतजी की एक नितान्त मौलिक और स्वतन्त्र कृति है 'छाया-वाद : पुनर्मूल्यांकन'। इसके अतिरिक्त उनके काव्यग्रन्थों के प्राक्कथन तथा अन्य स्फुट गद्य रचनाएँ उनके समीक्षक रूप की परिचायक हैं। समीक्षा-सामग्री में उनका आत्म-विवेचन सबसे पहले विचारणीय है। प्रासंगिक रूप में अपनी कुछ इतर कृतियों के सम्बन्ध में उन्होंने विचार विमर्श किया है, साथ ही अन्य कवियों की कुछ रचनाओं पर भी दृष्टिपात किया है किन्तु उसकी मात्रा स्वल्प ही है। 'गद्यपथ' तथा 'शिल्प और दर्शन' में उनके समीक्षात्मक निबन्ध संकलित हैं जो इस सन्दर्भ में आलोच्य हैं। इन कृतियों के आधार पर ही उनकी समीक्षा कला का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सकता है।

'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'निराला व्याख्यानमाला' में पढ़े गए इन तीन दीर्घ निबन्धों का संग्रह है—१ उद्भव और परि-वेश, २ विकास और कवि चतुष्टय, ३ कलाबोध, विधाएँ और पुनर्मूल्यांकन। इन निबन्धों द्वारा लेखक ने छायावाद विषयक भ्रान्तियों का निराकरण करने और मूल्य-परक दृष्टि से कुछ पुनर्विचार करने का प्रयत्न किया है। पंतजी की ये मान्यताएँ स्फुट रूप से यद्यपि उनकी भूमिकाओं में प्रकट होती रही हैं फिर भी यहाँ उनका समग्र समा-योजन करके लेखक ने एक नयी अन्तर्दृष्टि उद्घाटित की है।

पंतजी छायावाद के उद्गम और विकास का विवेचन करते हुए वेदनावाद, स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, चित्रभाषावाद, अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद आदि का विशद विश्लेषण करते हैं और भक्तिकाव्य, रीतिकाव्य तथा पूर्ववर्ती, आधुनिककाव्य से उसकी तुलना करते हैं। वे छायावाद की विविध परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए अपनी निजी परिभाषा स्थापित करते हैं—"छायावाद नवीन अन्तःसौन्दर्य से प्रेरित कलाबोध के दीपदान पर चतुर्दिक नवीन जीवन-सौन्दर्य तथा भाव प्रकाश बिखेरती हुई चेतना की ऊर्ध्वमुखी शिखा है जो व्यापक विश्वऐक्य तथा लोकसाम्य के अजस्र स्नेह-

धार से पोषित मूर्तिमान मानव मंगल का काव्य है।"[1]

लेखक ने इस निबन्ध में छायावाद के प्रति विविध मतों तथा व्याख्याओं को व्यापक पट पर रखने का प्रयत्न किया है। पंतजी के मतानुसार छायावाद के जन्म का हेतु है—युवा कवियों का आर्थिक संकट, उनकी मनोनुकूल परिस्थितियों का अभाव, हीन भावना का दंश और बौद्धिक बल से विरहित अतिरंजित भावुकता का उन्मेष। वे छायावाद की कालावधि सन् १६ से २४ के बीच सिद्ध करना चाहते हैं और विशुद्ध छायावादी कवियों का निर्णय भी करते हैं। छायावाद की प्रेरणा और बाह्य प्रभावों के विचारक्रम में वे निराला पर बंगला का प्रभाव, प्रसाद पर काशी का प्रभाव और स्वयं पर प्रकृति का प्रभाव घोषित करते हैं। प्रसाद के 'आँसू' के द्वितीय संस्करण में वे अपनी कविता 'चाँदनी' के कुछ बिम्बों और कल्पनाओं का प्रभाव तथा निराला की यमुना' में अपनी 'स्वप्न-छाया' आदि रचनाओं की अनुगूँज सिद्ध करना चाहते हैं।[2] किन्तु यह लेखक का मात्र दुराग्रह है अथवा दूसरों के प्रभाव-ग्रहण को अस्वीकारने का एक बहाना है ताकि वे यह प्रकट कर सकें कि उन्होंने स्वतन्त्र रूप से प्रेरणा ग्रहण कर इस नए काव्य-संचरण को सँवारा है और बाह्य प्रभावों द्वारा उसे अधिक परिपूर्ण बनाया है। छायावाद के प्रवर्तक के प्रश्न को लेकर भी पंतजी ने मनमाना निर्णय दिया है और रचनाकाल की दृष्टि से 'ग्रन्थि' को सर्वप्राचीन कहा है। इन तर्कों के अनन्तर भी पंतजी को यह आशंका है कि प्रसाद और निराला की तुलना में उन्हें सर्वप्रथम छायावादी कवि नहीं माना जाएगा, अतः उन्होंने यह कहकर समझौता किया है कि 'एक ही युग के आसपास सभी छायावादी कवियों' ने इस काव्य-संचरण को जन्म देकर सँवारा है।'[3]

छायावादी कवि चतुष्टय में पंतजी ने प्रसाद, निराला, स्वयं और महादेवीजी की गणना की है जिसमें आत्मप्रशस्ति तो है ही, साथ ही महादेवीजी के प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण उदार दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है, किन्तु प्रसाद तथा निराला का यहाँ अवमूल्यन ही किया गया है। इसका विस्तृत विश्लेषण यथासन्दर्भ पुनः करणीय है। अन्तिम निबन्ध में पंतजी ने समसामयिक कलाबोध, विविध विधाओं और वादों का पुनर्मूल्यांकन किया है तथा छायावादोत्तर समस्त काव्य को एक ही संचरण में स्वीकार किया है जिससे प्रगति-प्रयोग आदि हर क्षेत्र में उनकी स्थिति प्रमाणित हो सके। स्पष्ट है कि आलोच्य कृति वयोवृद्ध कवि पंतजी की यशोलिप्सा-प्रेरित, उनकी भूल-सुधार की भावना से प्रणोदित, अतिवादी धारणाओं की प्रतीक समीक्षाकृति है। अपनी कुछ दुर्बलताओं के बावजूद भी यह अत्यन्त विचारोत्तेजक कृति है। अतः पंतजी के आलोचना साहित्य में वह बारम्बार परीक्षणीय हैं।

पंतजी के विवेच्य विषयों में काव्य के बहिरंग, अभिव्यंजना शैली और कवि

---

१. पंत—छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ० ४२
२. " " " ४८
३. " " " ३७

की मानसिक चेतना का प्रतिपादन सर्वाधिक उल्लेखनीय है। युग-जीवन में सांस्कृतिक संचरण का प्रत्येक पद विन्यास और तदनुरूप उनकी अन्तश्चेतना की समस्त अनुभूति इन निबन्धों में सूक्ष्मतापूर्वक अंकित की गई है। उनका समीक्षक रूप हिन्दी खड़ीबोली की कविता में एक सशक्त आन्दोलन को वहन करता हुआ प्रादुर्भूत हुआ है। 'पल्लव' की भूमिका वस्तुतः कवि पंतजी की समीक्षक-प्रज्ञा का प्रथम उन्मेष है। स्वयं लेखक के के मतानुसार—"पल्लव की भूमिका में मैंने स्वर संगीत, ध्वनि, प्रभाव और काव्य के रूपविधान सम्बन्धी उपकरणों का विस्तृत विवेचन किया है।"[1] लेखक ने इसे निस्संकोच स्वीकार किया है—"उक्त भूमिका मैंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापति पद से दिए हुए श्री रत्नाकरजी के भाषण के उत्तर में लिखी थी—विशेषकर भूमिका का पूर्वार्द्ध उसी प्रतिक्रिया का परिणाम है।" इतना स्पष्ट है कि तब तक पंतजी की युवा दृष्टि काव्य चेतना के मूल स्रोतों तक नहीं पहुँच सकी थी, अत इस भूमिका में कवि की आवेशजनित प्रतिक्रियाएँ अधिक मुखर हुई हैं। काव्य के बाह्य उपकरणों का यत्किंचित ज्ञान पंतजी ने अत्यन्त मुखरता के साथ इसमें प्रकट किया है। कवि के अनवरत संघर्ष तथा अधिक आत्म-विस्तार का सांकेतिक रूप भी यहाँ द्रष्टव्य है। यद्यपि काव्य शिल्प के इस भावबोध में पर्याप्त संतुलन, अन्विति तथा परिपक्वता नहीं है, तथापि युवा मस्तिष्क की अदावत आस्थाएँ यहाँ प्रतिभासित हो रही हैं। कवि के स्तर से आलोचक के धरातल पर पहुँचने का यह प्रथम प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। इस भूमिका का ध्येय केवल आत्म विज्ञापन करना ही नहीं है, बल्कि इसी व्याज से युग की रूढ़ मान्यताओं पर मार्मिक प्रहार करके अभिनव स्थापनाएँ करना लेखक को अभिप्रेत है। पंतजी की स्वीकारोक्ति है कि 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिकाओं में मुझे युग-कर्दम के पर्वतों को लाँघकर काव्य-भावना के रथ को अपने साहित्यिक जीवन के चार कठिन मोड़ों से आगे बढ़ाने के लिए कवि से आलोचक बनने को बाध्य होना पड़ा है।[2] स्पष्ट है कि यहाँ आत्मालोचना स्वयं में पंतजी का अभीष्ट नहीं है, बल्कि यह उनके कवि-कर्म की विवशता है और साथ ही उनके जीवन-सिद्धान्तों की साक्षीभूत संवाहिका भी।

काव्य ग्रन्थों के इन प्राक्कथनों में पंतजी का काव्य-दर्शन और उनके जीवन का सांस्कृतिक संचरण विशेषतः प्रतिफलित हुआ है। पल्लव के 'प्रवेश' में कवि का किशोर कण्ठ पहली बार इतनी प्रगल्भता के साथ अपनी स्वच्छंदतावादी मनोवृत्ति, नवीनता के आग्रह साथ ही प्राचीन और अर्वाचीन काव्य-बोध की तथ्यनिर्धारिणी प्रज्ञा का परिचय देता है। विषयानुकूल इसमें उत्कृष्ट कवित्व, प्रकृष्ट भाषा, अलंकृत शिल्प, विलक्षण भाव वैदग्ध्य, विश्लेषण-संश्लेषण तथा गूढ़ तार्किकता प्राप्य है। छायावाद युग की प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों के प्रति यहाँ दृढ़ आस्था व्यक्त हुई है। व्रजभाषा बनाम खड़ीबोली का

---

१ पंत—साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ० ३३
२ " " " ६६

काव्यान्दोलन तत्कालीन परिस्थितियों के कारण छायावाद की पृष्ठभूमि में अत्यधिक उत्प्रेरक रहा है। 'पल्लव' के 'प्रवेश' में पतजी ने खड़ीबोली द्वारा ब्रजभापा को अपदस्थ करते हुए अपनी आधुनिकता का मुक्त समर्थन और उसके विपरीत पुरातन का सतर्क खण्डन किया है। परिणामतः यह कहा जा सकता है कि " 'पल्लव' का 'प्रवेश' छायावाद युग के आविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा पत्र है।"[1] पंतजी ने इस भूमिका में जिस सुरुचिपूर्ण काव्याभिमत अथवा काव्यास्वाद के जिस नए धरातल का उल्लेख किया है वह उन परिस्थितियों में तो सर्वथा स्वीकार्य नहीं था, किन्तु इतना सिद्ध है कि पंतजी का यह आत्मचिंतन नवयुग प्रवर्त्तन, अद्यावधि परिवर्तन, प्रगति और प्रक्रिया का यह स्वरूप निर्धारण नितांत प्रामाणिक है। पंतजी के कवि ने यहाँ भावुक से परे भावक का रूप धारण किया है जो इस सन्दर्भ में सर्वथा परीक्ष्य है। उन्होंने इस कृति में अपने सिद्धान्तों को घटित करके कवि आलोचक के रूप में सहृदय पाठक के मर्म को छूकर उसे स्पन्दित कर दिया है। प्रस्तुत भूमिका के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि पंतजी का कवि व्याख्याता भी है और स्वय रसभोक्ता भी। उनकी रचना-प्रक्रिया की समस्त भूमिकाओं का साक्षात्कार करने और उनकी कृतिशक्ति का आकलन करने के प्रयोजन से यह कृति अपरिहार्य है।

अपनी कृतियों के प्राक्कथन में पंतजी ने आत्मालोचन तथा स्वमूल्यांकन को आनुपातिक दृष्टि से अधिक स्थान दिया है। युग की अनेकानेक मान्यताओं की अग्नि-परीक्षा करते हुए अपने काव्य के विविध आयामों तथा संचरणों पर उन्होंने अतिव्याप्त चिन्तन किया है और काव्य-विकास के प्रत्येक पदक्षेप पर प्रभाव डालने वाली प्रेरक शक्तियो का रूपांकन भी किया है। उनकी समीक्षाकृतियो में शुद्ध समीक्षक की विश्लेपणक्षमता, संतुलन शक्ति और निर्णयात्मकता है। विपयानुकूल उनकी भापा कवित्व-पूर्ण तथा समलकृत है। अतः विपय-प्रेपणीयता में निरन्तर वृद्धि करती रहती है। पंतजी छायावाद-युग के समर्थ उद्गाता है, अस्तु छायावादी काव्य का पक्ष वे त्याग नही पाते। अपने समसामयिक विरोधों के प्रतिवाद स्वरूप वे स्वयं अपनी कविता का मूल्याकन करते हैं। इसके अतिरिक्त निर्विरोध स्थिति में भी पंतजी का समीक्षकपूर्ण सयत्न है। पंतजी के व्यक्तित्व में उनका कवि और उनका विचारक दोनों पृथक् हैं, अर्थात् उनकी भावयित्री तथा कारयित्री प्रतिभा पूर्णतः स्ववालम्बिनी होकर निरपेक्ष भाव से इस समीक्षा का रूप धारण करती है। भावकत्व तथा भोजकत्व, दोनों व्यापार यहाँ उपलब्ध हैं। लेखक उभय पक्षों के आधार पर ही अपनी धारणाएँ व्यक्त करता है। पर्यालोचन या आत्म-विश्लेपण के क्षेत्र में पंतजी का यह प्रयास निश्चय ही सराहनीय है। लेखक के इन विचार-सूत्रों के आधार पर इतर समीक्षकों को पंतजी के काव्य का निर्णय करने में विशेष सुविधा हो सकती है। लेखक के निष्कर्ष अपने में जहाँ विश्वसनीय, प्रामाणिक तथा प्रभावोत्पादक है, वहीं उसकी विचार-पद्धति वैज्ञानिक है। इन कृतियों

---

१. डॉ० नगेन्द्र—विचार और विश्लेपण, पृ० ८७

में पंतजी के आत्मकथ्य विचारणीय हैं। उनकी आत्मोक्ति के अनुसार अनेक काव्य की प्रेरक तत्त्व प्रकृति रही है। चिरमोह के कारण कवि ने उस प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी,[1] स्वीकार किया है और अपनी भाव विभोर मनःस्थिति में स्वयं नारी बनकर प्रकृति प्रेम का परिचय दिया है। इस गूढ आत्म-तत्त्व का तथ्योद्घाटन करके कवि ने अपने अन्तरहस्यों पर भी प्रकाश डाला है। लेखक ने उन समस्त बाह्य परिस्थितियों का सविस्तार निरूपण किया है, जिनसे उसका काव्य प्रसून हुआ है और उसके काव्य-सचरण में समय-समय पर विशेष गति समाविष्ट हुई है। पंतजी का यह आत्म निरीक्षण हिन्दी साहित्य में अनूठा है। यही आत्म साक्षात्कार उनके रसोद्रेक का मूलाधार है। पंतजी का कवि प्रकृति की सुकुमार क्रोड में पालित-पोषित एवं प्रबुद्ध हुआ है। अतः यहाँ उनके अन्तर्विकास का प्रत्येक आयाम क्रमबद्ध तथा विशद स्वव्याख्यान के रूप में प्रकट हुआ है। इन भूमिकाओं से स्पष्ट है कि प्रकृति की मधुरिमा के प्रति अनुरक्त पंतजी का कवि शनैः-शनैः आत्म प्रसार करता हुआ संस्कृति के उच्च स्तर पर ऊर्ध्वगमन करता है। हिमालय का 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेष' तथा वह 'रम्य शृंगार-गृह' इस किशोर कवि में एक अव्यक्त चेतना भर देता है। फलतः उसका भावुक कण्ठ फूट पड़ता है। मातृवत् प्रकृति के प्रति कवि के मीठे स्वप्नों और अस्फुट स्वरों की रागिनी हिन्दी कविता में नई रंगीनी भर देती है। कवि का हृदय प्रकृति के नीरव सौंदर्य तथा उसके रूप-रहस्यों से इतना अभिभूत हो जाता है कि उसके मन का अवाक् सौंदर्य वाणी की अव्यक्त झंकारों में झनझना उठने के लिए विकल हो जाता है। प्रकृति की इसी लीला-भूमि में कवि की प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाश में आती हैं या यहाँ प्रकृति ही अनेक रूप धरकर चपल मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है।[2] कल्पना के छायावन में यह प्रकृति-विहारी कवि भावना की सघनता के कारण स्वतः गायक बन जाता है। 'मैंने कविता लिखना कैसे आरम्भ किया' शीर्षक निबन्ध में पंतजी ने इसी नैसर्गिक संस्कार तथा प्राकृतिक सम्मोहन की ओर संकेत किया है। कवि ने 'आत्मिका' के पद्यबद्ध कथनों द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि की है। वस्तुतः पार्वत्य जीवन की वह मूल शक्ति कवि के मानस का वशीभूत करके इस प्रकार उत्प्रेरित करती रही है और उसके शब्दों के कुंजों से प्राकृतिक सौन्दर्य का मर्म मुखर मर्मर कलरव' स्वतः फूट फूटकर निकलता रहा है।[3] पंतजी बारम्बार स्वीकार करते हैं कि—'मैं प्रकृति की गोद में पला हूँ।'[4] 'सात्विक सौंदर्य मन को ऊपर उठाता है। निर्मल आह्लादकारक, उन्नयनशील, शब्दहीन, मौन नील प्रभाव दुलार भरी वन गंध सनी चीड़ की सुइयों की श्लक्ष्ण आवाज में गाती हुई ठण्डी पहाड़ी वायु मेरी

---

१ पंत—पर्यालोचन आधुनिक कवि
२ „ गद्यपथ, पृ० १२४
३ „ शिल्प और दर्शन, पृ० २४२
४ „ „ „ — ४

दुखती रगों में तप्त शिराओं में प्रवेशकर लोरियाँ भरी थपकी देकर जैसे मुझे सुला देना चाहती है।"[1] छायावादी कवि पंत की व्यथा-भरी अनुभूति प्राकृतिक प्रेरणावश उनके काव्य में स्पन्दित हो उठी है। यहाँ काव्य का विवेचन तो नहीं, किन्तु उन प्रेरक तत्त्वों का विश्लेषण अवश्य किया गया है जो पंतजी के काव्य के हेतु या विधायक हैं, जिनसे कवि की अनुभूति आन्दोलित होती रही है और जिस परिप्रेक्ष्य में उनकी काव्य चेतना क्रमशः संवर्धित हुई है। निश्चय ही पंतजी की काव्य-परीक्षा के पूर्व उनके काव्यांकुरोदगम विषयक ये हेतु अत्यन्त प्रयोज्य एवं उपादेय हैं।

अपने काव्य का विश्लेषण करते हुए बड़ी स्पष्टता के साथ पंतजी ने पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक कवियों का परिदान तथा प्रभाव स्वीकार किया है। पंतजी की वाग्विभूति अज्ञात रूप से जिस वीणा की झंकारों में झनझना उठी है उसके तार कालिदास, आंग्लकवि वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली, टेनीशन, सरोजिनी नायडू और महाकवि रवीन्द्र से मिले हैं। उनकी भाव-गरिमा कवि में 'नवीन प्रभात की किरण की तरह' प्रविष्ट होती रही है। 'पल्लव'-कालीन प्राकृतिक सौन्दर्य कवि की अभिव्यंजना को इतना प्राञ्जल और परिपक्व कर देता है कि कवि अपनी प्रकृत संवेदनशीलता के सहारे 'वीणा' की रहस्यमयी बालिका की सुरंग पूर्ण मासलता, तुहिन वन में छिपी हुई स्वर्णाभ 'उषा की कनक मदिर मुस्कान', निर्झरी के चंचल आँसुओं से गीली मूक व्यथा, फूलों के कटोरों में भ्रमरों का मधुपान, सरोवर की लहरी का उन्मुक्त नर्तन तथा तरुण हृदय के अज्ञात आवेग और उन्मादयुक्त प्रेम का प्रथम संस्पर्श चित्रित कर डालता है। कवि की सहज अनुभूतियाँ, 'अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़' कर अन्तःप्रेक्षण करती हैं और यौवन-सुलभ आशा-आकांक्षा प्रकट करती हैं। कवि के शब्दों में—"यौवन के आवेशों से उठ रहे वाष्पो के ऊपर मेरे हृदय मे जैसे एक नवीन अन्तरिक्ष उदय होने लगा।"[2] 'परिवर्तन' कविता पंतजी की इसी 'वयः सन्धि' की द्योतक है। जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ और उसके हृदय-मथन का बौद्धिक संघर्ष अपने राग-विराग में प्रतिबिम्बित हो उठता है। धीरे-धीरे कवि जीवन के कर्म-कोलाहल की ओर उन्मुख होता है और नवीन जागरण के आन्दोलन के प्रति संक्रमणशील वन जाता है। पंतजी ने अपने आत्मिक विकास के इन समस्त पद-विन्यासों को अपनी अंतरंग चिन्तना द्वारा प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि की सृजनशील चेतना अपना स्वतः मूल्यांकन करती है और तद्विषयक स्वस्थ निर्णय प्रस्तुत करती है।

आलोच्य समीक्षा कृतियों से प्रकट है कि पंतजी की उत्तरकालीन रचनाएँ उनके अवचेतन मन की सहज परिणति नही हैं, प्रत्युत उनके पीछे लेखक की एकाग्रही वैचारिक पृष्ठभूमि है। 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् कवि में एक नवीन जीवन-दर्शन का उन्मेष होता है जिसे 'उत्तरकाव्य' कह सकते हैं। इस कालावधि में न 'वीणा' तथा 'ग्रन्थि' काल की

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० ३६८-७०

२. ,, गद्यपथ, पृ० १२०

मधुचर्या रही, न 'पल्लव' और 'गुंजन' का प्रकृति प्रेम रहा और न 'युगांत'-'ग्राम्या' का प्रगति चिन्तन रहा। इन सबसे परे कवि सामाजिक धरातल पर सांस्कृतिक शक्तियों का समायोजन करता है। विश्व चेतना की विभिन्न समस्याओं का दिग्दर्शन कराकर वह समन्वय का प्रयत्न करता है और अपने नवमानववाद द्वारा भू-जीवन की नयी संरचना का समारम्भ करता है। पंतजी ने अपने जीवन की इन समस्त सैद्धान्तिक परिस्थितियों का स्वयमेव संस्मरणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' में कवि अपने साहित्यिक प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक है। उनका कवि आलोचक अपने दृष्टिकोण को सम्यक् रूप से सुस्पष्ट करके काव्य के अंतरंग का विवेचन करता है। 'पल्लव' का 'प्रवेश' जहाँ केवल काव्य के बहिरंग का विवेचन करता है वहीं 'आधुनिक कवि' का 'पर्यालोचन' विकास की अन्तर्सीमाओं का निर्धारण करता है। 'पर्यालोचन' के अनुसार पंतजी का कवि प्रकृति निरीक्षण से कवित्व की प्रेरणा पाता है—"कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। यह पर्वत प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर भावना अवस्थित है।"[1] प्रकृति के साहचर्य से कवि सौन्दर्य, स्वप्न तथा कल्पनाजीवी और जनभीरु बनता है। 'परिवर्तन' में इसी प्रकृति का उग्र रूप भी अंकित हुआ है। पंतजी का हृदय मंथन और बौद्धिक संघर्ष[2] इस कविता में ऊर्जस्वित हुआ है। यहाँ प्रकृति प्रेम को कवि व्यापक जन-नाश, सामाजिक निष्क्रियता और वैयक्तिक अस्वस्थता का कारण मानता है।[3] उसका वह सौन्दर्य स्वप्न खण्डित हो जाता है। गाशव के मंथन के परिणामस्वरूप नैराश्य तथा उदासीनता का संक्रमण होता है और पश्चात् सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य का आलोक कवि हृदय का स्पर्श करता है। उसकी सर्वातिशायता चित्त को अलौकिक आनंद से मुग्ध और विस्मित कर देती है। क्रमशः उसका सुन्दरम् से शिवम् की ओर संचरण होता है। 'गुंजन' में पंतजी की अन्तर्बाह्य प्रकृति अन्तर्मुखी हो जाती है। 'ज्योत्स्ना' में वही प्रकृति भावात्मक हो उठती है—उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशायता का आलोक विकीर्ण करता है। कवि 'ज्योत्स्ना' में निर्वैयक्तिक मानवीय धरातल व्यापक राग भावों से समन्वित नवीन प्राण कामना अधिष्ठित करता है। इसे कवि अपनी 'प्रियातिप्रिय' रचना कहता है।[4] 'मैं और मेरी रचना'—'गुंजन' शीर्षक निबंध में कवि मुक्तकंठ से स्वीकार करता है कि उसके भीतर आनन्द का स्रोत है। उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति वहाँ आत्मा की ओर लौटी है, अतः भीतरी शक्ति का आभास उसे शुद्ध, अमिश्रित तथा चिरस्थायी अंतर अनुभूति के साथ प्राप्त होता है। यहाँ जगजीवन के प्रति नयी

---

१ पंत—पर्यालोचन आधुनिक कवि, पृ० ७-८
२ " गद्यपथ पृ० ११०
३ " आधुनिक कवि, पृ० ११
४ " " " १२

आस्था है और दृष्टिकोण में तन्मयता का भाव भी ।[1] अनुभूति की तीव्रता का भाव अन्तर्मुखी बोध के साथ यहाँ सक्रिय अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करता है, अस्तु कवि में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा प्रवल हो जाती है।

पंतजी के अन्तस्साक्ष्यों के अनुसार बौद्धिकता के संचार के बाद उनका कवि ऐन्द्रिय रूपों में नहीं उलझता। भावना और बुद्धि के योग से वह एक निश्चित परिणाम पर पहुँचता है। 'युगवाणी' में समाज के भावी रूप का पूजन किया गया है। यहाँ कला जीवन की अनुवर्त्तिनी है। इस कृति में मानवता की सौन्दर्य-कल्पना द्वारा "भविष्य के अरूप सौन्दर्य का रूप के पाश में बँधने के लिए आह्वान किया गया है।"[2] पंतजी की इस संक्राति-युग की वाणी जीवन की वास्तविकता को आत्मसात कर लेती है। अत: एक सहज निरपेक्षता का भाव जागृत हो जाता है। इस प्रकार एक स्नायविक विक्षोभ की मंद प्रतिध्वनि पंतजी की उत्तरकालीन रचनाओं में फूट पडी है और फिर अखण्ड भावना की व्यापकता में पर्यवसित हो गयी है। शनै:-शनै: महर्षि अरविंद तथा रवीन्द्र का प्रातिभिक प्रभाव स्वीकार कर पंतजी प्राच्य और पाश्चात्य भाव-सन्धि की ओर प्रयत्नशील होते हैं। उन्हे सुधार और जागरण की ओर प्रेरित करने का श्रेय तत्कालीन गाँधीवादी विचारधारा को रहा है। स्वामी दयानन्द, परमहंस देव तथा स्वामी विवेकानन्द का कवि पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वह विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय को प्राथमिकता देने लगता है। इस स्तर पर पहुँचकर कवि आध्यात्मिक सत्य एवं यंत्र-युग की मनोवृत्तियों को सामाजिक मर्यादा में प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार पंतजी के काव्य-विकास के समस्त आयाम उनके इन स्फुट आत्मकथनों द्वारा स्पष्ट हुए हैं। उनके जीवन की अर्ध शताब्दी (५० वर्ष) के सारे उत्थान-पतन, समसामयिक युगजीवन तथा मानवचेतना का दिग्घोष यहाँ ध्वनित हुआ है। 'युगांत' में पंतजी के कथनानुसार एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ है—'युगांत' के मरु में मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुँधले पद-चिन्ह पड़े हुए हैं।"[3] महर्षि अरविंद के जीवन-दर्शन से अभिभूत होकर लेखक नैतिक आदर्शों में एक नयी क्रान्ति स्थापित करता है और युग की विशृंखलता में नवीन मानवीय सामंजस्य का भाव समाहित करता है— "भौतिक तथा आध्यात्मिक संचरणों के मध्य समन्वय की मेरी भावना धीरे-धीरे विकसित होकर अधिक वास्तविक होती गई है और आज प्रतिगामी शक्तियों की अराजकता के युग में प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मेरे मन की निष्ठा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है।"[4] उत्तरोत्तर कवि "मनुष्य के मन पर जमे हुए कठोर-कुरूप अंधकार

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० २३१
२. " आधुनिक कवि २, पृ० १७
३. " गद्यपथ पृ० १२३
४. " गद्यपथ पृ० १३०

के वज्रकपाट पर अपने अकाट्य पुंज शब्दों की अविराम मुष्टियों का प्रहार"[1] करता जाता है। इस जागरण और युग जीवन की उपयोगिता का तत्व-ग्रहण कवि औपनिषदिक भावभूमि पर भी करता है। तत्परिणामस्वरूप वह एकस्वरता एवं समरसता का पोषक बनता है। पंतजी के काव्य की इयत्ता और उनके भाव प्रसार की सीमा इसीलिए अकेलेपन में नहीं केन्द्रित की जा सकती है। वस्तुतः पंतजी की कृति अपने कर्तृत्व के समस्त उपकरणों, अपनी भावुकता के आत्म प्रसार के सभी उपादानों और अपनी कला के सम्पूर्ण अर्थ गौरव को पहचानती है, साथ ही उसे अत्यन्त सरल, सुबोध तथा प्रेषणीय पद्धति से प्रस्तुत करती है। पंतजी ने अपने प्रामाणिक आत्मसाक्ष्य उपस्थित करके अन्तस् के गोपन रहस्यों को भी प्रकट किया है। मार्क्स, फ्रायड, एडलर, युंग जैसे मनस्तत्ववेत्ताओं और समाजशास्त्रियों के अनिवार्य लक्षण पंतजी के काव्य में प्रस्फुटित हुए हैं। कवि अवचेतना के आगे सापेक्ष के उस पार सफलतापूर्वक पहुँचकर सत्य की प्रतिष्ठा[2] करने को इच्छुक है। पंतजी अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों दर्शन-सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं और पुनः समन्वय को ही सत्य मानकर उसमें घटित करते हैं। इन रचनाओं में जीवन के प्रति दृढ़ आस्था व्यक्त हुई है। कल्पना की भूमि से उतरकर यहाँ कवि लोक-मानस पर अवतरित हुआ है। वह हर प्रकार की मुक्ति तथा शाश्वत अवस्थिति की कामना करता है। पंतजी की उत्तरकालीन कृतियों में कलाकारिता का एकान्त अभाव है जो उनकी वैचारिकता का परिणाम है। पंतजी विचारों की परिपक्वता को कला का उच्चतम उत्कर्ष स्वीकार करते हैं। उनके मत में कला का सुचारु मिश्रण और भाव प्रत्येक जागरण युग के कवियों में रहा है। उनकी धारणा है कि—'इस विश्लेषण-युग के अशान्त, संदिग्ध, पराजित एवं अप्रसिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए।'[3] साहित्य में उपयोगितावाद को प्रथम स्थान देकर भी वे उसे कलामय बनाने के पक्ष में हैं। इस प्रकार के आत्मकथन कवि के काव्य सिद्धान्त और उसकी उपलब्धि का यथातथ्य लेखा प्रस्तुत करने में समर्थ हैं।

साहित्यिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में पंतजी की आस्थायें बड़ी स्पष्टता के साथ मुखरित हुई हैं। काव्य विषयक अनेक समस्याओं से सम्बंधित उनकी ये विस्तृत विवेचनाएँ बहुत उपयोगी हैं। साहित्य को उन्होंने 'मानव जीवन की व्याख्या'[4] स्वीकार किया है और उसे युग से प्रभावित सिद्ध[5] किया है। आज की द्वयर्थक नीति तथा द्विविधा के प्रति उनके निष्कर्ष हैं कि "हमें गंभीरतापूर्वक न इस युग के स्वप्न मुख के भीतर

---

१ पंत—शिल्प और दर्शन, पृ० २४५
२ " आधुनिक कवि (पर्यालोचन), पृ० ३०
३ " " " ४०
४ " गद्यपथ, पृ० १०५
५ " रश्मिबंध—परिदर्शन, पृ० ८

पैठ सके हैं, न बहुजन के भीतर। "एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में स्वान्तः और बहुजन में आपस में वही सम्बन्ध रहता है जो गुण और राशि में। और एक के बिना दूसरा अधूरा है।"[1] विरोधी विचारधाराओं तथा विषम परिस्थितियों के अन्तर्गत भी पंतजी सन्तुलन अथवा सामंजस्य प्रतिष्ठित करने के अभिलाषी हैं। कवि की वाणी को उन्होंने 'विश्व जीवन की स्वर लिपि' कहा है। उनके विचारानुसार कला का अस्तित्व जीवन में लय होकर तदाकार हो जाता है। वस्तुतः बाह्य जीवन का सूक्ष्म रूप ही अन्तर्जीवन है। इस कला का प्रकटीकरण आत्माभिव्यक्ति या आत्मपरिणति में होता है, जिससे पूर्ण समन्वय का प्रतिपाश स्थापित होता है। उनकी आत्मप्रतीति है कि "हमारे वर्त्तमान व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी अथवा अन्तर-बाह्य सम्बन्धी ऊपरी विरोधों के नीचे हमारी चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरों में एक नवीन संतुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है, जो आज के विभिन्न दृष्टिकोणों को एक नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामजस्य में बाँध देगी।"[2] पंतजी ने मनुष्य के विराट् जीवन को कला तथा कलाकार के ऊपर संस्थित किया है। काव्य का स्वरूप भी पतजी ने विश्व की सौहाद्र-भावना के रूप में अंकित करना चाहा है। इस आन्तरिक मन्थन के पश्चात् अपनी अनुभूतियों को वे लोक-चेतना में अन्तर्व्याप्त करते हैं। काव्य की आत्मा पंतजी रस को ही स्वीकार करते हैं। उनकी 'वाणी केवल जन-मन में कवि के विचार वहन कर सके' इसके अतिरिक्त अन्य किसी अलंकरण की उसे आवश्यकता नही। आत्म-पीड़ा के रूप में करुणा की अनुभूति भी उनकी प्रारम्भिक कृतियों में द्रष्टव्य है। वे अपनी रस-योजना में भावों के अन्तर्प्रवाह पर बल देते हैं। अलंकार को कवि वाणी की सजावट के लिए ही नही अपितु अभिव्यक्ति का विशेष द्वार मानता है। अलंकार भाषा की पुष्टि के लिए तथा राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है। वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति है।"[3] काव्य में उक्ति-वैचित्र्य की ओर पंतजी सदैव सयत्न रहे हैं। प्रत्येक पर्यायवाची शब्द भिन्न-भिन्न प्रकार का भाव ध्वनित करता है, अस्तु उस ध्वन्यर्थ-भेद और पर्याय वक्रता की ओर वे अत्यंत सर्तक एवं सावधान है। यहाँ किसी काव्य मत की उपेक्षा नहीं, अपितु विरोधी स्थितियों में समन्वयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं। इन उपपत्तियों की पूर्व घोषणा ध्वनिकार आनदवर्धन और वक्रोक्तिजीवितम् के प्रवर्त्तक कुन्तक द्वारा प्रचारित होने पर भी पंतजी के इन काव्य सिद्धान्तों में पर्याप्त मौलिकता का अश है। काव्य की प्राकृतिक शक्ति में कवि मानसिक शक्ति की प्रतिच्छाया देखता है। पंतजी प्रत्येक शब्द की जीवन्त शक्ति को परखकर यहाँ उसकी व्यावहारिक उपयोजिता अंकित करते है। उनकी कल्पता की विदग्धता ने यत्र-तत्र शास्त्रीय परम्परा का उल्लंघन भी किया है। स्वच्छंदतावाद के अनिवार्य

---

१. पंत—गद्यपथ, पृ० १४३
२. ,, ,, ,, १४५
३. ,, पल्लव—प्रवेश, पृ० १६

आकर्षणवश कवि अभिजात शास्त्रीय प्रचलनों पर प्रहार करता है। अभिव्यंजना पक्ष को लेकर पंतजी ने शब्द योजना, सामासिक चमत्कार, लिंग प्रयोग, अलंकार सौष्ठव, छन्दोनुशासन तथा संगीत सौंदर्य आदि समस्याओं पर विचार-विमर्श किया है। इन समीक्षाओं में अंतर्गत लेखक के अधिकांश सैद्धांतिक निष्कर्ष अत्यधिक स्वस्थ हैं। परम्परागत शास्त्रीयता का एकांगी पक्ष लेखक ने स्वीकार नहीं किया है अस्तु उसका विवेचन व्यावहारिक तथा प्रायोगिक है। पंतजी की मान्यताएँ 'पल्लव' की भूमिका में अवश्य अतिवादी हो गई हैं। वे स्वच्छंदतावादी काव्याभिमान से इस प्रकार अभिभूत हो गए हैं कि भारतीय काव्य-परम्परा की समृद्ध शास्त्र निधि की अवहेलना करके केवल उसमें अभावों का ही दिग्दर्शन करने लगते हैं। वस्तुतः इसे एक युवा मस्तिष्क का भावाकुल विद्रोह कह सकते हैं और एक नवोन्मेषशील कवि का सशक्त आत्म विज्ञापन भी। पंतजी इसे स्वयं 'प्रतिक्रियाजन्य' स्वीकार कर चुके हैं। उपर्युक्त भूमिका में युग का अनिवार्य प्रभाव है। लेखक ने अपनी भाषा, अपनी भाव-व्यंजना और अपने विशिष्ट शिल्प की ओर पाठकों को आकृष्ट करने का भरसक प्रयास किया है। यहाँ लेखक सफल एवं एकाग्राही कहा जा सकता है। यद्यपि इस भूमिका में कवि पंतजी की कुछ उक्तियाँ बड़ी सुदृढ़, विचारोत्तेजक और अभिनव हैं फिर भी उसकी अधिकांश प्रतिक्रिया प्रेरित तथा असंयत हैं।

'पल्लव' के 'प्रवेश' का विशेष विषय है—भाषा-विवाद। ब्रज बनाम खड़ीबोली का काव्यान्दोलन उस युग में अत्यन्त उग्र हो उठा था, जिसमें नवोदित कवि पंतजी का सम्मिलित होना विस्मयमूलक नहीं, सहज स्वाभाविक था। ब्रजभाषा से पंतजी का तात्पर्य प्राचीन साहित्यिक हिंदी से है, जिसमें अवधी आदि अन्य सुविख्यात साहित्यिक उपभाषाएँ भी हैं। भाषा का यह सूक्ष्म वैज्ञानिक विभेद कवि का लक्ष्य नहीं है। वस्तुतः मध्य युग में ये भाषाएँ सार्वभौम होकर इतनी विशद बन गई थीं कि इन्हें व्याकरणिक तथा ध्वन्यात्मक अंतर के आधार पर सहजतः पृथक् नहीं किया जा सकता। पंतजी का स्पष्ट प्रतिपाद्य है—वह भाषा (या भाषाएँ) आधुनिक काव्य में प्रयुक्त खड़ीबोली की विरोधी रही है। आलोच्य कृति में 'हिंदी कविता की नीहारिका जहाँ उदित और अस्त हुई है, उस क्षण को कवि सतर्कतापूर्वक ग्रहण करना चाहता है। वह अज्ञात भविष्य को अपने ज्ञान की परिपूर्णता की परिधि में प्राप्त करना चाहता है। लेखक यह स्वीकार करता है कि 'अब ब्रज भाषा और खड़ीबोली के बीच जीवन संग्राम का युग बीत गया।'' यहाँ कवि का लक्ष्य वह भूतकालिक काव्य भाषा है, जिसकी परि-समाप्ति पर वह अपनी विजय घोषणा भावविभोर होकर सुना रहा है। इस घोषणा में किञ्चित अतिव्याप्ति भी है क्योंकि ब्रजभाषा उन दिनों पूर्णतः मृत नहीं, अपितु मरणासन्न या समाप्तप्राय थी। इस भूमिका की प्रतिक्रियानुसार एक क्षीण विद्रोह पुनः जागृत हो गया। कालान्तर में एक दीर्घ अंतराल के पश्चात् स्वयमेव वह विरोध शांत हो

---

१ पंत—पल्लव—प्रवेश पृ० २

गया। पंतजी ने उस सुकुमार भाषा (ब्रजभाषा) को खड़ीबोली का 'मातृपद' प्रदान किया है, जो यद्यपि भाषाशास्त्र की दृष्टि से अवैज्ञानिक है, तथापि यह कम गौरव का विषय नहीं है। उनके शब्दों में अब यह ओजस्विनी कन्या (खड़ीबोली) प्राणों में अक्षय मधु भरकर विकसित हो चली है। लेखक ने ब्रजभाषा का पहले मुक्तकंठ से गौरवगान किया है जैसे—"प्राचीन काव्य भाषा की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु ऋतु थी, उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी, उसके जादू से सूरसागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी 'मानस' उमड़ चला" आदि। "आज उसका अल्प प्रयोग मात्र है। वह कुछ हाथों की तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खंडहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा तथा गन्दे छिद्रों से दो एक दन्तहीन बूढ़े सापों को जगा, उनका अन्तिम जीवन नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने तथा प्रवीण कला कुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं। दस बरस बाद ये केंचुलियाँ, शायद इनकी आँखें झाड़ने के काम आएँगी।"[1] प्रस्तुत उद्धरण सिद्ध करता है कि प्राचीन ब्रजभाषा काव्य की शीर्षस्थ उपलब्धियों के प्रति तो लेखक श्रद्धाभिभूत है; उसका सशब्द विद्रोह मात्र वर्तमान ब्रजभाषा-कवियों के प्रति है, जो ब्रजभाषा के मृतप्राय कलेवर को सस्पंद और सशक्त घोषित करते रहते हैं। श्री रत्नाकर के अभिभाषण की अतिवादी स्थापनाएँ लेखक को तुलनात्मक विवेचन के लिए प्रेरित करती हैं। पंतजी के निष्कर्ष और निर्णय के अनुसार "खड़ीबोली में मधुस्नात ज्योत्स्ना नहीं, कार्य व्यग्र प्रकाश है। सुखसम्पन्न भारत की हृतंत्री की झंकार ब्रजभाषा में पहले थी अवश्य, किन्तु भौतिक शांति के उस निर्द्वन्द्व राज्यकाल के पश्चात् उसकी कलाकारिता समाप्त हो गई। वह ऐश्वर्य-संगीत और अमंद सौरभ में पली थी, किन्तु काल-परिवर्तन के साथ 'माधुर्य की मेनका सी वह ब्रजबाला स्वयं फूल से विरह में झुलसकर काँटा' बन गयी। पंतजी का प्रथमारोप है कि यह भाषा प्रायः बहिरंगप्रधान या बहिर्मुखी रही है—"ब्रज के दूध दही और माखन से पूर्ण प्रस्फुटित यौवना अपनी बाह्य रूपराशि पर इतनी मुग्ध है कि उसे अपने अन्तर्जगत के सौन्दर्य के उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिलता।"[2] पंतजी ने ब्रजभाषा पर विलास रुग्णता का लाँछन लगाया है, जो कुछ-कुछ एकांगी मत कहा जा सकता है। भाषा को जीवन के केवल एक ही पक्ष के साथ बाँध देना सर्वथा संगत नहीं; क्योंकि 'व्यंजना वृत्ति भाषा की ही नहीं प्रयोक्ता की भी होती है'[3] तभी उसमें रूढ़ता, कृत्रिमता और विलास रुग्णता आती है। वस्तुतः भाषा उतनी रुग्ण नहीं होती, जितनी परिस्थिति होती है। शृंगार-काव्य में भी जीवन की ताजगी और आनंद की स्फूर्ति प्राप्त की जा सकती है। हाँ, ब्रजभाषा-काव्य में अपेक्षाकृत लोकमंगल की मात्रा अल्प अवश्य है। पंतजी के मतानुसार भक्ति में 'शुष्क दर्शन की नीरस तत्त्वोष्मा' है।

---

१. पंत—पल्लव—प्रवेश पृ० २
२. " " " ४
३. डा० नगेन्द्र—विचार और विश्लेषण, पृ० ८६

रामचरित मानस म सनातन धर्म की सकीर्ण साम्प्रदायिकता है। भक्त कवियो की परिधि प्राय सीमित है। कुछ अपवाद मिल सकते है। अपवादो से तथ्य नहीं बनते। पतजी के शब्दो म—"उस ब्रज के वन मे झाड-झखाड, दादुरो का बेसुरा प्रलाप, ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ म अमृत का पात्र और बाएँ मे विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछलाता रहा है।"[1] विलासिता के अतिरिक्त उन कवियो की गति मद रही है। समग्र जीवन मथुरा से गोकुल जाने म ही समाप्त हो गया। अपरिमेय कल्पना शक्ति वासना के हाथो द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर नायिका के अग-प्रत्यग से लिपट गई। जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर उनसे बाबा न कह दे, एक ही शरीर यष्टि मे पूरा ब्रह्माण्ड भरकर—"ये पुष्प धनुषधारी कवि रति के महाभारत मे विजयी हुए। इस कामुकता के प्रचार से आर्य-नारी की एकनिष्ठ निश्चल पवित्र प्रतिमा वासनाओ के असह्य रग-बिरगे बिम्बो मे बदल गई। वियोग वह्नि मे वह विरहिणी अबला जल गई। रगीन डोरियो वाले उस कविता के हैंगिंग गार्डन मे सबकी बावडियो में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारा म फूट रहा है।"[2]

रीतिकाव्य मे पतजी भाव और भाषा का शुष्क प्रयोग देखते हैं। उनके कथनानुसार—तीन फुट के नग्न शिश्न का यह ससार अस्वस्थ मनोवृत्ति का पोषण करता है। रीतिकाव्य ने शृगारिक चेष्टाओ के अतिरिक्त अन्य रसो के कुल्ले भी किए। भूषण आदि भी अनुप्रासो के कम्पज्वर की उच्छृखल बडबडाहट के अतिरिक्त हकलाती हुई लेखनी से पुष्ट साहित्य की रचना नहीं कर पाए। लेखक का अनुमान है—"यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृखलता के विन्ध्य ने मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा म हमारे सूर शशि की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता।"[3] रीतिकाव्य पर यह व्यग्यात्मक प्रहार वस्तुत कटु सत्य है। रीतिकाव्य अपने प्रसाधन तथा मसृण कान्ति-स्पृहा के कारण विकास का पथ अवरुद्ध कर सचरणहीन बन गया था। उसमे माधुर्य और स्निग्धता के समक्ष जीवन के उदात्त तथा विराट रूप का समापन हो चुका था। उक्त काव्य मे ओज तथा सघर्ष की अभिव्यक्ति कम हो गयी थी। इस काव्य मे उक्ति वैचित्र्य, वाग्वैदग्ध्य और व्यजना की वाग्विभूति है अवश्य, पर गतिशीलता के अभाव मे उसकी परिधि सकीर्ण है। वह आधुनिकता का निर्वाह कर पाने मे अक्षम है। भाषा यद्यपि भाव की की प्रतीक मात्र है, फिर भी उसका नाद तत्त्व अभिव्यजना और विचारणा मे सहायक होता है। पतजी का यह अति उद्धत, व्यग्र तथा असयत विद्रोह कुछ अतिवादी अवश्य हो गया है फिर भी यह बडा विचारोत्तेजक सिद्ध हुआ है। पतजी की इस तर्कशीलता

---

१ पत—पल्लव—प्रवेश, पृ० ६
२ " " " ७-८
३ " " " ६

से अभिभूत होकर भी उनकी मान्यताओं का समर्थन कर सकना कठिन है। फलतः विचारकों ने उनके प्रति असहमति व्यक्त की। वस्तुतः "जिसमें सूर का सागर लहराता हो, जिससे भगवान कृष्ण ने मचल-मचलकर माखन-रोटी माँगी हो उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव में अत्यंत निमर्म हैं।"[1] यद्यपि ये विषय भी कविपरक हैं, भाषापरक नहीं, फिर भी इस गौरव से परिपूर्ण भाषा के प्रति समादर का भाव होना समयानुकूल एवं स्वाभाविक है। ब्रजभाषा और रीतिकाव्य, दोनों विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से एक हैं, अस्तु पंतजी का प्रहार भी उभय पक्षों पर है। ब्रजभाषा में माधुर्य की अति है, पर उसमें कर्त्तव्य कठोर जीवन का पौरुष भाव नहीं है। उसमें सुकुमारता है पर व्यापकता, उदात्तता और प्राणवत्ता नही है। स्मरणीय है कि इन गुणों की अन्त-र्व्याप्ति स्वयं कवि पंत में भी अल्प है। पंतजी स्वय सुकुमार और मधुराभिव्यंजना के मृदु शिल्पी है। पर ब्रजभाषा की इस हीनता के प्रति वे असहिष्णु हो उठे हैं। सम्भवतः यह उनकी आत्मभावना का प्रक्षेपण है या फिर प्रतिक्रियाजन्य या हीनता-ग्रंथि-युक्त सपक्ष धारणा। निस्सन्देह ब्रजभाषा और रीतिकाव्य में ये अभाव हैं अवश्य, पर यहाँ पंतजी ने दोष-दर्शन में अति कर दी है।

भाषा के संबंध में पतजी की धारणा बड़ी विशद है और लोक भाषा के पक्ष में ग्राह्य है। उनके मतानुसार—भाव और भाषा का सामंजस्य आवश्यक और उपयोगी होता है। वे राष्ट्रभाषा के हिमायती है—'हमें भाषा नहीं, राष्ट्रभाषा चाहिए।'[2] ऐसी भाषा जो सहस्त्रो मनुष्यों की बहु-व्यवहृत और बहु-प्रचलित भाषा हो, जिसका वक्ष-स्थल इतना प्रशस्त एवं उदार हो कि उसमें समस्त गोलार्ध समाहित हो जाए। वह मन की नहीं, मुँह की वाणी हो, भाव-तंत्री और शब्द-तंत्री—दोनों का वहाँ मेल हो। उनकी घोषणानुसार—"हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रो से भरी पुरानी दृष्टि की चोली को नहीं चाहते। इसकी सकीर्ण कारा में बंदी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है।"[3] भाषा में पच्चीकारी के अतिरिक्त विस्तार, व्यापकता, वर्ण-विन्यास, वैचित्र्यमय, सामयिक रुचि, आधुनिकता, भूत-वर्तमान-भविष्य सभी पद-चिन्हों का रूपांकन, जीवन का स्पंदन और नया सुधावर्षण हो—यह लेखक का दृढ़ मन्तव्य है। यह संजीवनी शक्ति पंतजी के विचार से खड़ीबोली में प्रविष्ट हुई है अतः वह व्यवहार और काव्य दोनों की भाषा है। यहाँ पंतजी की दूरदर्शिता का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है। उनके मतानुसार—'भाषा संसार का नाद्‌य चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व की हृतंत्री की झनकार है।'[4] सभ्यता के आनुषंगिक विकास में युग का, विशेषतः वाणी का प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः

---

१. डॉ० नगेन्द्र—विचार और विश्लेषण, पृ० ८८
२. पंत—पल्लव—प्रवेश, पृ० ११
३. " " " ११
४. " " " १४

प्राचीनता ही नवीनता की पोषक होती है। पुराना पतझड़ ही वसन्त की खाद बनता है। भाषा सिद्धान्त के इन शाश्वत, सर्वमान्य तथा प्रचलित उल्लेखों के अतिरिक्त पंतजी ने अपनी धारणा के आधार पर स्वच्छन्द मनोवृत्ति का संकेत भी किया है। यद्यपि पंतजी की आत्मरुचि समस्त भाषाभाषियों की रुचि नहीं बन सकती फिर भी वैयक्तिक दृष्टि से यह विचारणीय है। उनके शब्दों में—"मुझे तो उस तीन चार सौ वर्षों की वृद्धा के शब्द बिल्कुल रक्त-मांस हीन लगते हैं, जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों।"[1] प्राचीनता वस्तुतः भाषा की नीरसता का कारण नहीं होता बल्कि उसके महात्म्य की द्योतक होती है। संस्कृत का पुरातन वैभव और उसकी दीर्घकालिक स्थिति उसके गौरव का कारण है। ध्वन्यात्मकता तथा नाद तत्त्व के अभाव से उच्चारण का दोष न्यूनाधिक रूप में ब्रजभाषा में है अवश्य, पर यह उसके राग तत्त्व की न्यूनता नहीं, बल्कि उसकी मसृणता और ध्वनि-सुकुमारता है। पंतजी ने व्याकरण में निर्बन्ध और राग तत्त्व से स्वतन्त्र जिस भाषा की माँग की है, उसका अस्तित्व आज गोचरीभूत नहीं होता। नियमवश्यता हर भाषा में आवश्यक है। हाँ, उसका विकास स्वाभाविक अवश्य होना चाहिए। पंतजी ने प्रत्येक पर्यायवाची शब्द की अर्थ व्याख्या अपनी वैयक्तिक धारणा तथा भावुक कल्पना के सहारे की है, जो कोषगत अर्थ से भिन्न मात्र उनकी अपनी अनुभूति है। यहाँ प्रश्न है प्रचलन और सर्व-स्वीकृति का। सार्वजनीन भाषा के निर्माण में व्यक्तिगत रुचि नगण्य होती है। संगीत-भेद के आधार पर पर्यायवाची शब्दों का ऐसा प्रयोग उपयुक्त हो सकता है, पर उसका सार्वत्रिक सम्बन्ध होना अनिवार्य है। कविता के लिए पंतजी ने चित्र भाषा का आग्रह किया है। यह उनकी स्वस्थ धारणा है। शब्द सचित्र एवं सस्वर होने चाहिए, जो "झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हों।"[2] शास्त्रीय आधार पर प्रत्येक काव्य भाषा में प्रचुर रूप से लक्षणा और व्यंजना को समाविष्ट करने का विधान है। भारतीय काव्य-शास्त्रीय आचार्यों में आनन्दवर्धन और कुन्तक ने इस पर्याय-वक्रता पर विशेष ध्यान दिया है। यहाँ स्वयं पंतजी भी पाश्चात्य साहित्य के सहज आकर्षणवश उसका आग्रह करते हैं[3], आ विचार.पदान पूर्णतः अवधार्य है। इस प्रकार का मत-प्रतिपादन उनकी समीक्षक प्रज्ञा का परिचायक है।

काव्य में अलंकार प्रयोग के प्रति भी पंतजी पूर्ण जागरूक हैं। उन्हें सजावट के लिए ही प्रयोज्य नहीं, प्रत्युत अभिव्यक्ति का विशेष द्वार मानते हैं। वे बाह्य, थोपे और आरोप्य अंग नहीं, वरन् काव्य के अभिन्न तथा अन्तर्भूत अंग हैं। फिर भी काव्य में वे साध्य नहीं, अभिव्यक्ति के साधन ही रहते हैं। अलंकार भाषा के भाव प्रेरित वक्र प्रयोग हैं। यहाँ उसकी सीमा निर्धारण का प्रयास उपयुक्त ही है।

---

१ पंत—पल्लव—प्रवेश पृ० १५
२ " " " १८
३ " " " १९

प्राकृतिक दृश्यों में कवि सौन्दर्य-रहस्य के अनेक ऐसे तत्त्व पाता है जो काव्य के योजक तत्त्व हैं। वे काव्य की संगीतात्मकता को अधिक प्रश्रय देते है अतः छन्दोविधान के प्रति उनकी धारणा है कि—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंपन। कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है।"[1] कविता को इसी आधार पर वे 'परिपूर्ण क्षणों की वाणी' मानते हैं। वे संगीत का अभिनिवेष निरायास चाहते हैं। पंतजी ने ध्वनि की दृष्टि से मात्रिक छदों को वर्ण वृत्तों से श्रेष्ठ माना है क्योंकि सुकुमार पदक्षेप उसमें अधिक संगत होता है। यों तो 'जो वाणी जनमन में कवि के विचार स्वतः वहन करे उसे अन्य अलंकरणों की आवश्यकता नहीं रहती।'[2] वर्ण वृत्तों का इतना तिरस्कार पंतजी की अतिवादी धारणा का द्योतक है। उनके मतानुसार 'काव्य संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं न कि व्यंजन।'[3] इस स्वर-संयोग से उत्पन्न वर्ण लालित्य-विधायक हुआ करते हैं और विराट भावों के उद्घोषक भी, अस्तु यह धारणा निर्भ्रांत नहीं है। कवित्त छंद को पंतजी विदेशी 'पोष्यपुत्र' मानते हैं और सवैया में एकस्वरता तथा जड़ता देखते हैं। इन लोक-प्रचलित छंदों का महत्त्व निरालाजी ने पुनः प्रतिपादित करके इस मत का सप्रमाण खण्डन किया है। वस्तुतः इस आग्रह के पीछे पंतजी की स्वच्छन्द तथा मुक्तक छन्दवाली धारणा है। 'युगवाणी'[4] और 'अन्तिमा'[5] में कवि का यही विजयोल्लास प्रकट हुआ है। 'छन्दों के बंध' और 'प्रास के रजत पाश' काटने में उनका कवि सदैव तत्पर रहा है। स्वर-लिपि का सामंजस्य और संलापोचित अनौचित्य का दिग्दर्शन इसी भावना का परिणाम है। कवित्त में—'कुलवधू का गौरव न देखकर गणिका का अलंकरण' देखना पंतजी का वैयक्तिक दृष्टिकोण है। कवित्त छन्द की आनुप्रासिक छटा की अति के कारण यह कथन अंशतः सत्य भी प्रतीत होता है। भावों का अन्तरस्थ हृत्कंपन छन्द में बाह्य सज्जा से अधिक होना ही चाहिए, क्योंकि 'कविता विश्व का आन्तरिक संगीत है।'[6] पंतजी इसीलिये 'छन्द नाट्य' का समर्थन करते हैं। मुक्तक के प्रवर्त्तन का लोभ पंतजी में रहा अवश्य है, जिसका खण्डन 'निराला' की प्रत्यालोचना (पंत और पल्लव) द्वारा हुआ है। निराला के छन्द-विधान पर वे अनियमितता का दोष लगाते हैं और उसमें बँगला-हिन्दी का अस्वाभाविक मेल देखते हैं। इस क्षिप्रगामी छन्द में स्वर का स्वाभाविक स्फुरण लय की गति, भावना-क्रिया की संगति और सहजता के रूप में होता है जो लेखक के लोकप्रचलनपूर्ण दूरदर्शी दृष्टिकोण का साक्ष्य है। पंतजी की व्याकरणिक मान्यताओं में भी नवीनता है। क्रियापद

---

१. पंत—पल्लव—प्रवेश, पृ० २२
२. ,, ग्राम्या ,, १०३
३. ,, पल्लव—प्रवेश ,, २७
४. ,, युगवाणी ,, २
५. ,, अन्तिमा ,, ९४
६. ,, पल्लव—प्रवेश ,, ३०

दीर्घ समास, तुकान्तता और समस्यापूर्ति का निर्वाह उन्हें अरुचिकर लगता है। निश्चय ही उपयुक्त काव्य के ये बाधक तत्त्व हैं। पंतजी स्वयं इनके प्रयोक्ता हैं, पर सिद्धान्त प्रायोगिक और आत्मघटित ही नहीं, वाचिक भी होते हैं। लेखक खड़ीबोली के भावी विकास के लिए कृतसंकल्प है। इस भूमिका में लेखक अंग्रेजी तथा बँगला साहित्य से खड़ीबोली की तुलना करता हुआ समालोचना की नींव डालता है और एक नवीन पथ इंगित करता है। निस्सन्देह आज से लगभग ४५ वर्ष पूर्व व्यक्त किए हुए ये विचार अपने ऐतिहासिक महत्त्व के साथ-साथ अत्यन्त सशक्त, अभिनव और भविष्यत् के अनुकूल रहे हैं।

काव्य के बहिरंग विवेचन और आत्मालोचन के अतिरिक्त पंतजी ने पूर्ववर्ती तथा समसामयिक अन्य कवियों एवं युग-चिंतकों की उपलब्धि का मूल्यांकन भी किया है।

मैथिलीशरण गुप्त को उन्होंने गांधीयुग के जागरण आलोक का ऐसा कवि घोषित किया है जो प्राचीन भारतीय मानस के मध्ययुगीन रूप तथा परम्परागत काव्य का प्रणेता है। प्रसादजी को उन्होंने नए सौंदर्यबोध तथा प्राणोन्मुखी रसिकता का कवि माना है जो 'बनारसी भावुकता' से आक्रान्त है।[1] पंतजी उनके काव्य में किसी सुस्पष्ट चेतना का स्पर्श, चिंतन या जीवन दर्शन न पाकर केवल लक्ष्यहीन उड़ान, दुर्बल भावना की छटपटाहट, प्रणय-व्यथा का नैराश्यपूर्ण अंधकार तथा व्यक्ति दृष्टि की मानसी-कृतियों का असफल प्रतिपादन करते हैं। निराला को वे एक 'धूमकेतु' सिद्ध करते हैं और उनके उपचेतन में व्यक्तित्व की महत्त्वाकांक्षा, विकृति, अहम्मन्यता, विषमता, स्पर्धा, प्रचण्डता, अस्पष्टता, रहस्यमय इन्द्रजाल, निर्मल संघर्षों की प्रतिच्छाया प्रदर्शित करना चाहते हैं। निराला के काव्य में अतिबौद्धिकता का आरोप करके वे उनके व्यक्तित्व को उद्धत, संवेदनशील और दुर्द्धर्ष स्वीकार करते हैं। निराला के काव्य में वे बिखराव, असंतुलन और प्रयत्नहीनता के प्रमाण पाते हैं। उनकी कला को वे रोमेंटिक और क्लैसिकल मानते हैं। प्रसाद और निराला के काव्य के कुछ स्तुत्य अंशों का विवरा-भाव में उन्होंने स्तवन अवश्य किया है किन्तु प्रायः उनकी दृष्टि अभावोन्मुख है क्योंकि उन्होंने प्रायः व्यक्तिगत स्तर पर उनका विश्लेषण किया है जैसे—निराला को 'फेनामिना' सिद्ध करते हुए वे कहते हैं—'वे महामानव न होकर जैसा कि उन्हें बना दिया गया है, युगमानव की जय पराजय, आनंद अवसाद, औदार्य-दारिद्र्य, राग-द्वेष, स्पर्धा-विषमता आदि जनित व्यापक दुर्दम संघर्ष के प्रतीक थे।'[2] पंतजी निराला को दुख दैन्य पराजित व्यक्ति के रूप में देखते हैं, क्योंकि निराला को वह सफलता नहीं मिली जिसे पंतजी सच्ची सिद्धि मानते हैं।

महादेवी को पंतजी 'छायावाद के वसंत वन की सबसे मधुर, भाव मुखर-पिकी'

---

१ पंत—छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृ० ४६
२ „ „ „ ६८

मानते हैं। उनका काव्य अन्तर्मुखी भावसाधना के पवित्र आँसुओं से धौत, तपः पूत, स्फटिक शुभ्र, प्राग्ण चेतना का रश्मि कलश मंदिर है।···वह प्राणों की संवेदना से सौरभ गुंजरित, मनोरम सृष्टि है, जिसके चाँदनी का प्रांगण चन्दन की भाव भीनी गन्ध से सिंचित है।"[1]

इन कवियों के अतिरिक्त स्वयं के सम्बन्ध में पंतजी ने कितना कहा है—वह वर्णनातीत है। यों यही तर्क वे अपनी भूमिकाओं में भी देते रहे हैं, किन्तु यहाँ कहने का कुछ विशेष मन्तव्य है। प्रयोगवादी-प्रगतिवादी खेमे से प्रभावित होकर उन्होंने आधुनिक कवि के पर्यालोचन में छायावाद का जो विरोध किया था उसका यहाँ स्पष्टीकरण किया है और प्रगतिवादी-प्रयोगवादी कविता को छायावाद का एक रूपान्तर घोषित किया है ताकि छायावाद को अभी जीवित स्वीकार किया जाए और पंतजी के कवि को भी। वे वाह्य प्रकृति, अन्त-चैतन्य ऊर्ध्व अन्तः सत्य एवं मूल्यनिष्ठ काव्यप्रवृत्ति को ही छायावाद का आदर्श मानते हैं ताकि उनकी उत्तरवर्ती तथाकथित दार्शनिक (अरविंदवादी) रचनाओं को छायावाद के अन्तर्गत ग्रहण किया जाए तथा उन्हें सर्वोपरि शीर्षस्थ तथा सर्वसिद्ध छायावादी कवि मान लिया जाए। ये निष्कर्ष वास्तव में आत्मसापेक्ष है। इन्हीं उपपत्तियों के कारण प्रस्तुत कृति असतुलित हो गयी है।

अन्य स्फुट निबंधों में पंतजी ने अपने युगीन साहित्यकारो (जिनके प्रति स्पर्धा-भाव नही था) को अभिनन्दित भी किया है। लेखक के रागद्वेप-भाव से पृथक् रहकर केवल तथ्यपरक दृष्टि से इन समीक्षात्मक निबंधों का आकलन करना उपयोगी हो सकता है। रवीन्द्रनाथ का कवित्व[2], गीतांजलि, रवीन्द्रनाथ और छायावाद[3], दार्शनिक अरविंद की साहित्यिक देन[4] आदि समीक्षात्मक निबंध इसी संदर्भ में द्रष्टव्य हैं। रवीन्द्र को वे 'हिमालय का शुभ्र शांत शिखर' मानते हैं —"ऐसा विशाल क्षितिज जिसमें धरती का सौन्दर्य और स्वर्ग का ऐश्वर्य एक ही कलात्मकता में सिमट गये हों।"[5] अरविंद को कविर्मनीषी सिद्ध करके लेखक उनके अन्तर्जगत के उच्चस्तर की गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय देता है। 'पल्लव' के 'प्रवेश' में पंतजी रीति कवियों, भक्त कवियों और अन्य साहित्यकारों का भी सामान्य भावबोध कराते है और 'निराला' के छन्द-विधान परसूक्ष्म दृष्टिपात करते है। इसके अतिरिक्त 'छायावाद-पुनर्मूल्यांकन' मे वे दिनकर, नरेन्द्रशर्मा, अंचल, बच्चन, रामनरेश त्रिपाठी, अज्ञेय, मोहनलाल महतो वियोगी, नवीन, जानकी वल्लभ शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी, मुकुटधर पाडेण्य, इलाचंद्र जोशी, सियारामशरण गुप्त, उदयशंकर, भट्ट मुक्तिबोध, नरेश मेहता, सर्वेश्वर, कुंवरनारायण, भारती, जगदीशगुप्त

---

१. पंत—शिल्प और दर्शन पृ० ८३
२. " " " ३५८
३. " " " ३५२
४. " " " ३६२
५. " " " ३५४
६. " " " १५६

आदि का उल्लेख करते हैं। 'यदि मैं कामायनी लिखता' भी एक उल्लेखनीय कृति-समीक्षा है। प्रस्तुत निबध मे विस्तृत भूमिका देता हुआ लेखक आधुनिक काव्य का समानुपातिक विकास क्रम प्रस्तुत करता है और भावना का उदात्त आरोहण परिलक्षित करता हुआ यह स्वीकार करता है कि 'खडीबोली ऊबड-खाबड सुन्दरी धरती से सघर्ष करती हुई प्रसादजी के काव्य मे अकुरित हुई।'[1] 'कामायनी' के कवि को पतजी महत्त्वाकांक्षी मानते हैं और सम्पूर्ण काव्य का अन्तरग दर्शन करते हुए उसको मन तत्त्व, दर्शन, प्रकृति-सघर्ष पुराख्यान, सृष्टि और सभ्यता के विकास के विविध पक्ष स्पष्ट करते हैं। पतजी के अनुसार —इस काव्य कृति के अभाव मे छायावाद स्वप्न, सम्मोहन या घनीभूत पीडा मात्र ही है। कामायनी के कथानक मे विस्तार, विवरण, प्रगाढता और हृदय मथन युक्त भावो के उत्थान पतन की सूक्ष्मता पतजी ने विशेषत उल्लिखित की है। कामायनीकार की कल्पना की विदग्धता, साधारणीकरण मे वैशिष्ट्यता का अभाव, भावो, सवेगो की शिथिलता तथा अनगढपन दिखाकर पतजी ने अपनी तत्त्वा वेषी प्रज्ञा का परिचय दिया है। आलोच्य कृति की प्रयासजन्य शिथिलताओ का उल्लेख करते हुए पतजी उसे मनमोहक तथा बहुमूल्य बताते हैं—"रत्नच्छाया व्यतिकर की तरह उसके कला भावो की धूमिल वाष्प भूमि मे प्रस्फुटित होकर नेत्रो को आकर्षित किए बिना नही रहती। उसमे प्राणो का मर्म मधुर उन्मन गुजार, भावनाओं का आरोहण तथा व्यापक सौन्दर्य बोध की नवोज्ज्वलता है।"[2] पतजी शब्दो के सुघर शिल्पी हैं, अत कामायनी के शब्द चयन पर विशेष विचार करते हैं और उसके शब्द शैथिल्य पर विचार करते हुए कहते हैं—"कामायनी की कला चेतना मे जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प मे वैसी प्रौढता नही मिलती।"[3] यत्र-तत्र छद-भग बेमेल शब्द विस्तार, शब्द-बाहुल्य, शिथिल पद विन्यास, असतुलन एव असयम उन्हे दृष्टिगत होता है। पतजी ने यहाँ छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति अपनाई है और अपनी बारीकखयाली प्रस्तुत करके कला-दक्षता का परिचय दिया है। उनके मतानुसार—'कामायनी जीवन के यथार्थ तथा चैतन्य का अभिव्यक्ति नही दे सकी।'[4] इसके उपरात भी उसे शुभ्र शात सौन्दर्य का पवित्र 'यश काय' कहना विरोधमूलक उक्ति है। निश्चय ही कामायनी को 'विश्व साहित्य मे जरा मरण का भय नही है'। इस स्तुतिपरक व्याख्या और प्रारम्भ असगतता के उल्लेख मे सामान्य औपचारिकता ही है। न कि कामायनी का महात्म्य प्रतिपादन। 'मानसी' की भूमिका भी आत्म समीक्षा की दृष्टि से विचारणीय है। इसे 'राग चेतना का प्रतीक रूपक' सिद्ध[5] करके सप्रेषणीय घोषित किया गया है। अन्य कृतियो

---

१ पत—शिल्प और दर्शन पृ० १५६
२ ,, ,, ,, १५६
३ ,, ,, ,, १६०
४ ,, ,, ,, २७६
५ पत—दो शब्द—युगान्त।

सम्बन्ध में पंतजी की आत्म-समीक्षाएँ प्राय: उदार हैं। एक स्थान पर वे 'पल्लव' की कोमल-कांत-कला की घोषणा करते हैं। 'गुंजन'[1] में वे 'सा' से 'रे' पर पहुँचकर संगीत कला के विकास का विश्वास प्रकट करते हैं। 'पल्लव' के 'विज्ञापन' में कवि अपने विशेषाधिकार की घोषणा करता है। लिंग-निर्णय के क्षेत्र में तथा कोष रहित कुछ अस्फुट शब्दों के प्रयोग में वे व्याकरणिक नियमों के अनुकूल नहीं हैं। पंतजी अपनी कृति-शक्ति की प्राय: स्वशब्दवाची समीक्षा कर जाते हैं। वे एक साथ ही समीक्ष्य और समीक्षक हैं। उन्हें प्रकट रूप से आत्म-विज्ञापन के लिए विवश होना पड़ा है। निस्सन्देह कृती अपने कर्तृत्व की परीक्षा अधिक सफलता से कर सकता है। पर अनुभूति के अतिरिक्त अभिव्यक्ति भी ध्यातव्य होती है। 'कवि: करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पण्डिता:' इस उक्ति का मर्म यही है अन्यथा 'निज कवित केहि लाग न नीका' की उक्ति घटित होती है। इन विज्ञापनों में विधेयात्मक मूल्यांकन अधिक है। कवि का ध्येय प्रतिरक्षा है, फिर भी उसकी प्रणाली मौन और विनम्र है। निरालाजी की भांति पंतजी इन आत्मकथनों में उद्धत नहीं हुए है, यद्यपि दोनों का साध्य एक है। मेरे विनम्र मत में—'आत्म' को छोड़कर यदि पंतजी युगीन प्रवृत्तियों और नई विचारणाओं का निष्पक्ष वैचारिक निरूपण या सैद्धान्तिक स्वरूपांकन करते तो साहित्यशास्त्र का अधिक हित होता।

प्रवृत्तिपरक अध्ययन के स्फुट संकेत पंतजी के निबन्धों में भी द्रष्टव्य हैं। 'पल्लव' में वे छायावाद की विधिवत् घोषणा करते है। उनके 'गुंजन' में रहस्य-दर्शन और आध्यात्मिक वैचारिकता का अजस्र प्रवाह दिख रहा है। धीरे-धीरे छायावाद के प्रति पंतजी का कवि अनास्थावान हो जाता है और उसमें पोषक-तत्वों का अभाव देखकर उसे केवल 'अलंकृत संगीत'[2] सिद्ध करते हैं। उनकी आलोचक प्रतिभा यथार्थवाद, प्रगतिवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, गांधीवाद, अरविंद के अन्तश्चेतनावाद और अभिनव प्रयोगवाद का आस्वाद लेती है। वे प्रयोगवादी के अन्तर्मुखी आदर्श तथा बहिर्मुखी यथार्थ के बीच प्रतिदिन बढ़ती हुई गहरी खाई को भर देना चाहते है। पन्तजी सूक्ष्म एवं व्यक्त, अव्यक्त के प्रति अपना विद्रोह प्रकट कर संक्रांतिकाल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को तथा सर्वसाधारण को वाणी देकर संतोष प्रकट करते हैं।[3] 'नई कविता' का आरंभ वे छायावाद से मानते हैं।[4] यहाँ वे प्रवर्त्तन के श्रेय का लोभ-संवरण नहीं कर पाते। 'नई कविता' शिल्प में भले ही छायावादी युग के कुछ समीप हो पर उसका भाव-बोध सर्वथा नया और छायावाद से आपाततः पृथक् है। 'नई कविता' के छंद मुक्तक से कुछ भिन्न हैं जिसे पंतजी ने सूक्ष्मता से नही परखा है। पंतजी भविष्य के प्रति आशावान्

---

१. पंत—विज्ञापन—गुंजन
२. ,, आधुनिक कवि भाग १, पृ० ११
३. ,, गद्यपथ पृ० १५४
४. ,, ,, ,, २४७

हैं। उनका विश्वास है कि तरुण वर्ग अपने स्वस्थ सबल कन्धों पर भावी कविता की पालकी को वहन करेगा। नई पीढ़ी 'भविष्य मे नवमानवतावाद को सशक्त, मर्म स्पर्शी, काव्य गुण-सम्पन्न माध्यम बना सकेगी, इसमे मुझे सन्देह नही।'[1] नई कविता का वे उदारता से स्वागत करते हैं और निश्चय करते हैं कि 'इसमे भविष्य मे अनेक सभावनाएँ आ सकती हैं।'[2] प्रयोग की वर्तमान स्थिति को वे अस्त-व्यस्त ही मानते हैं—अत बीटल कविता, अ-यथार्थवादी कविता, अस्तित्ववादी का प्रत्याख्यान करते हैं। यथा—'प्रयोगशील काव्य अभी अपरिपक्व, अनुभव शून्य है।'[3] अथवा 'नयी कविता मे महान कुछ भी नही है।'[4] इस आरोप का कारण सम्भवत यही है कि पतजी नयीकवितावादी नही बन पाए। 'कला और बूढा चाद' का कवि प्रयोगानुग है अत पतजी को प्रयोगशील कहा जा सकता है। पतजी यथार्थ के प्रति अधिक आकृष्ट हैं। उनके शब्दो मे—'धनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास ही अधिक प्रगतिकारक एव लोकोपयोगी सिद्ध होगा।'[5] फिर भी पतजी एकागी यथार्थ को नही मानते। 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' मे वे व्यापक यथार्थयुक्त लोक जीवन का अकन करते हैं—'स्त्री पुरुष भौतिक विज्ञान शक्ति से सगठित, भावी लोकतन्त्र मे रहने योग्य सस्कार विकसित प्राणी बन सकेंगे तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनो का छूने लगेगी।'[6] पतजी की छायावाद-विषयक काव्य विवेचना अत्यन्त विचारोत्तेजक और मौलिक है। उन्होने उसके पराभव के कारणो को सूक्ष्मता से परखा है और पुनर्मूल्याकन भी किया है। वीणा की अप्रकाशित भूमिका 'विज्ञप्ति' मे वे 'कविकिकर' के आरोपो का निराकरण करते हुए समसामयिक ह्रासोन्मुखी परिस्थितियो की चर्चा करते है। साराशत, यह स्पष्ट है कि पतजी सामयिक प्रवृत्तियो की ओर सावधान हैं और यथासमय सम्यक् दिशा निर्देश करते हैं।

अपनी सास्कृतिक मान्यताओ के कारण पतजी सराहनीय हो सकते हैं, किन्तु यह उनकी चिन्तनसामग्री है, विवेच्य वस्तु नही। कवि का यह भाव-बोध साहित्यिक समालोचना के क्षेत्र मे अशत ग्राह्य है। पतजी इसे साहित्य-सचरण की प्रक्रिया मानते हैं। यहा युग चेतना का अन्तरतम तथा तत्वस्पर्शी अवगाहन किया गया है किन्तु यह समीक्षा का केन्द्रीय विषय नहीं है। यहाँ पतजी वाद विश्लेषण से बहुत ऊपर हैं और विश्व के भावी साहित्य निर्माण के लिए, सास्वर ज्योतिष्कणो के प्रति आश्वस्त भी हैं। भारतीय दर्शन के वे प्रशसक है और 'ज्योत्स्ना' काल की अधिमानसिक स्थिति

---

१ पत—शिल्प और दर्शन पृ० २५०
२ " " " २६१
३ " " " २८२
४ " छायावाद पुनर्मूल्याकन, पृ० १२७
५ " शिल्प और दर्शन, पृ० ३२४
६ " उत्तरापथ, पृ० ८४
७ " " " ४५

को आज भी तारतमित विचार-प्रौढ़ि प्रदान करने के प्रयासी हैं। पंतजी का नव-मानवतावाद वस्तुत: आत्मदर्शी कवि का अन्तर्ज्ञान है। 'उत्तरा' की प्रस्तावना में इसी ऊर्ध्वसंचरण की प्रक्रिया है। वे भावात्मक चेतना के सृजन का गम्भीर 'शंख घोष' करके स्पष्ट कहते हैं कि—"मैं बाह्य के साथ भीतर की क्रांति का भी पक्षपाती हूँ।"[1] यहाँ पंतजी का आत्मचेता कलाकार पूर्ण प्रबुद्ध है। अपने द्वितीय उत्थान को वे 'नवीन चेतना-काव्य, मानते हैं, जिसके अन्तर्गत मानव- जीवन के उच्च एवं समदिक, दोनों स्तरों के सुसंस्कृत, संतुलित, व्यापक सामाजिकता तथा नवमानवता के तत्त्व वर्तमान हैं।[2] इन सांस्कृतिक अभिमतों का विवेचन उनके निबन्ध-साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध है।

पंतजी का समीक्षा-साहित्य अत्यन्त विचारोत्तेजक है। वे वस्तुत: समर्थ समीक्षक हैं। आलोच्य समीक्षाकृतियों की भाषा तत्सम, परिनिष्ठित और प्रभावोत्पादक है। उनके गद्य में कवित्व की सरसता, रूपकात्मकता, कल्पना वैदग्ध्य और वचनवक्रता द्रष्टव्य है। मुक्तक छंद को 'यक्ष की विरहकृश लेखनी से कनक वलय की तरह उत्पन्न बताना' मर्मस्पर्शी कल्पना है। पंतजी 'है' क्रियापद की दो सींगोंवाले कनकमृग से उपमा देकर कविता की पंचवटी से परे रखना चाहते हैं। यह उक्ति चित्रोपमता का विलक्षण उद्धरण है। पल्लव के 'प्रवेश' में इस प्रकार के कथन भरे पड़े हैं। उनकी उत्तरकालीन कृतियों के प्राक्कथन वैचारिकता के बोझ से कुछ दब से गए है पर उनकी प्रौढ़ भाषा का चमत्कार वहाँ भी प्रभावकारी सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ एक स्थल द्रष्टव्य है—पंतजी छायावादी काव्य-प्रवृत्ति को एक अल्हड़ किशोरी के रूप में चित्रित करते हुए अपने रूपक विधान, बिंब विधान, प्रतीक विधान, कल्पना वैदग्ध्य, भावप्रवण काव्योद्गारों का परिचय दे रहे हैं—

"···एक मध्यवर्गीय अज्ञात-यौवना किशोरी जिसकी चंचल पलकों में नए युग के रूपबोध के स्वप्न साकार होने की चेष्टा में पंख फड़काना सीख रहे थे। हृदय की अकल्पनीय गहराइयों में लोक-जीवन के भाव-यौवन तथा लोक-चेतना के उदात्त उन्मेष ने नयी संवेदनाओं की हिलोरों में मचलना आरम्भ कर दिया था, उसके अंगों में अधखिले पारिजात मुकुलों के समान असंख्य रूपो में अविराम फूटता हुआ निरूपम सौंदर्य झरझरकर अपने नि:स्वर भाव मोन स्पर्शो ··। वह किशोरी एक अन्तर्मूक ज्वालामुखी शिखर पर तथा बहिर्मुखी संघर्ष की पीठिका पर अवतीर्ण हुई।" अंग्रेजी, उर्दू तथा संस्कृत भाषा की पदावलियाँ भी उन्होंने विषयानुसार प्रयुक्त की है। पंतजी के गद्य पर कवित्व की गहरी छाप है। उनकी समस्त पदशैली में लोकोक्तियों, मुहावरों और अलंकरणों की विलक्षण छटा दिखाई देती है। भाषा को गम्भीर, और जटिल समस्याओं से बचाकर सरस बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। पंतजी ने प्राय:

---

१. पंत—प्रस्तावना (उत्तरा) गद्यपथ, पृ० ११०
२. " चरणचिह्न (चिदम्बरा के प्रथम संस्करण की भूमिका)

विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, परिचयात्मक और तुलनात्मक शैली का प्रयोग किया है, जिसमे गुण कथन भी है, दोष दर्शन भी है और तथ्यान्वेषण भी है। यहाँ व्यग्य विनोद का भी पुट है। विषयवस्तु की दृष्टि से पतजी मे बहुज्ञता है जो उनके अध्यवसाय का साक्ष्य है। व्यक्ति, कृति और प्रवृत्तिपरक समीक्षा के साथ साथ पतजी का आत्मालोचन हिन्दी के लिये नवीन प्रयोग है। भूमिकाओ मे समुचित निर्देशो के कारण पतजी का काव्य विचारोत्तेजक हो गया है। निरालाजी के शब्दो मे वे अपने 'काव्यरत्नागार की स्वर्ण कुजी' स्वय प्रदान कर देते है। पतजी की गद्यकारिता प्रशसनीय है। वे सुदृढ शिल्प और कट्टर आस्थाएँ लेकर नहीं चलते, बल्कि निरतर समयानुकूल सिद्धान्तो को ग्रहण करते हैं। निश्चय ही उनमे युगप्रवर्त्तन का उत्साह है।[१] पतजी इसे स्वय 'मन की प्रतिक्रिया'[२] मानते है। उनमे भावयित्री प्रतिभा के साथ साथ कारयित्री प्रतिभा भी है। उनके इन विचारो मे कुछ कवि समीक्षको जैसे वर्ड्सवर्थ के लिरिकल बैलेड्स की भूमिका का प्रभाव या उसकी प्रेरणा दिखाई देती है। वे अपने सूत्र कथनो मे प्राचीन काव्यशास्त्रियो की पद्धति को भी अपनाते हैं। साथ ही विचार स्वातत्र्य भी प्रकट करते है। इन विवेचनो मे कवि का स्वच्छदतावादी दृष्टिकोण अनेक स्थलो पर प्रकट हुआ है। वस्तुत पतजी मुख्यत चिन्तक हैं, समीक्षक नहीं। समीक्षा उनकी चिन्तना का एक पक्ष है जो निश्चय ही उनके कवि को समझने और उनकी दृष्टि से अन्य कवियो को पहचानने हेतु उपयोगी हो सकता है।

---

१ पत—छायावाद पुनर्मूल्याकन, पृ० ९-१०
२ डॉ० नगेन्द्र – विचार और विश्लेषण, पृ० ६१
३ पत—साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ० २६
४ डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास, पृ० ६६०

आकर-ग्रन्थ

१. आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका
४. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल
५. उपन्यास कला—विनोदशंकर व्यास
६. कुछ विचार—प्रेमचन्द
७. कहानी का रचना-विधान—डॉ० जगन्नाथ शर्मा
८. काव्य के रूप—डॉ० गुलाबराय
९. काव्य में उदात्त तत्त्व—डॉ० नगेन्द्र
१०. गद्यपथ—पंत
११. गद्यकाव्य मीमांसा—अंबिकादत्त व्यास
१२. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—पंत
१३. ज्योत्स्ना—पंत
१४. दक्खिनी गद्य और पद्य—श्रीराम शर्मा
१५. द्विवेदी स्मारक ग्रन्थ
१६. निबन्ध संग्रह-भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१७. पांच कहानियाँ—पंत
१८. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—सं० डॉ० सावित्री सिन्हा
१९. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—डॉ० लीलाधर गुप्त
२०. प्राचीन गुर्जर काव्य (संग्रह)
२१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र
२२. विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र
२३. ब्रजभाषा—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
२४. साठ वर्ष : एक रेखांकन—पंत
२५. साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्र
२६. साहित्यानुशीलन—डॉ० शिवदानसिंह चौहान
२७. समीक्षाशास्त्र—डॉ० दशरथ ओझा
२८. शिल्प और दर्शन—पंत
२९. हार—पंत

३० हिंदी साहित्यकोष—स० डॉ० धीरेंद्र वर्मा
३१ हिंदी शब्दसागर
३२ हिंदी जैन साहित्य का इतिहास
३३ हिंदी साहित्य का इतिहास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३४ हिंदी गद्य का निर्माण—आचार्य चंद्रवली पाण्डेय
३५ हिंदी भाषा सार—शिवप्रसाद सितारेहिंद
३६ हिंदी साहित्य के ८० वर्ष—शिवदानसिंह चौहान
३७ हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव
३८ हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण—डॉ० महेंद्र
३९ हिंदी आलोचना उद्भव और विकास—डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र

संस्कृत

१ काव्यादर्श २ काव्यप्रकाश ३ काव्यानुशासन ४ काव्यालंकार ५ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ६ साहित्य दर्पण ७ सिद्धांतकौमुदी ८ ध्वन्यालोक ९ रसगंगाधर १० दशरूपक ११ नाट्यदर्पण १२ व्यक्तिविवेक १३ अग्निपुराण १४ वर्णरत्नाकर

अंग्रेजी

१ इन्साइक्लापीडिया आफ ब्रिटानिका
२ डब्ल्यू० एच० हडसन—एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ लिटरेचर (द्वि० स०)
३ आइ० ए० रिचर्डस्—प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (१९५५)
४ एस० के० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (प्र० सं०)

पत्र-पत्रिकाएँ

१ आलोचना २ सरस्वती ३ रूपाभ ४ विशाल भारत ५ साहित्य संदेश
६ हिंदी साहित्य सम्मेलन—विज्ञप्ति (रत्नाकर का अध्यक्षीय भाषण) आदि

—साभार